महर्षि वेद व्यास

एक विचिकित्सा

बालकृष्ण बलदवा

[illegible]

महर्षि वेद व्यास

एक विचिकित्सा

बालकृष्ण सीताराम बलदवा

महर्षि वेदव्यास
एक विचिकित्सा

लेखक :
बालकृष्ण बलदवा

मुद्रक :
प्रिंट-पॅक बि.फार्म्स प्रा.लि.,
डी-१६, एम.आय.डी.सी. लातुर.

प्रकाशक :
बालकृष्ण बलदवा
सुभद्रा, उद्योग भवन परिसर,
लातुर ४१३५३१ महाराष्ट्र.

महर्षि वेद व्यास

एक विचिकित्सा

महर्षि वेद व्यास

एक विचिकित्सा

श्री व्यासजी का जन्म मत्स्यगंधा या सत्यवती और पराशर ऋषि के समागम से हुआ ऐसा माना जाता है। व्यासजी पराशर के आश्रम में रहकर बडे हुए । सत्यवती कुरुवंशीय शंतनु से विवाहित होकर हस्तिनापुर की महारानी बनी। व्यासजी का योगदान और प्रभाव महाभारत कालीन समाज पर बहुत ही महत्वपूर्ण रहा था। शंतनु के बाद सत्यवती के निःसंतान पुत्र की अकालीन मृत्यू हुई। उसकी विधवा पत्नियों का व्यासजी से नियोग किया गया। जिससे धृतराष्ट्र, पांडु और विदुर का जन्म हुआ। इस प्रकार कुरुवंशियों के अनेक संकट समयों में व्यासजी ने महत्त्वपूर्ण भूमिकाएं निभाई थी, उनको संभाला था और उनका उत्कर्ष किया था। सत्यवती के पुत्र होने के नाते उनका कुरुवंशियों में सब से ज्यादा श्रेष्ठता का आदर और मान था। इसलिए समय समय पर व्यासजी कौरव और पांडवों को उपदेश दिया करते थे। युध्दारंभ में

श्रीकृष्ण का अर्जुन को गीता उपदेश और शांतीपर्व में भीष्म का युधिष्ठिर को उपदेश अमर बन गये। वैसे व्यासजी के उपदेश महत्त्वपूर्ण दिखाई नहीं देते। इन्होंने कुछ महत्त्वपूर्ण कार्य किया है, कोई ग्रंथ लिखा है, कोई सिध्दांत प्रस्थापित किया है। कोई नई तत्त्व प्रणाली प्रचलित की है ऐसा कुछ भी दिखाई नहीं देता। महाभारत ग्रंथ में व्यासजी की व्यक्ति रेखा या चित्र, एक सर्व साधारण आदरणीय, सात्विक और सदुपदेश देने वाले ऋषि, यहां तक ही सीमित, अंकित किया गया है। इससे ज्यादा नहीं।

आख्यायिका है कि महाभारत ग्रंथ की रचना व्यासजी ने की थी। इसमें शब्दांकन व्यासजी का था और ग्रंथ लेखन गणपति ने किया था। अब गणपति, शंकर पार्वती के पुत्र थे या किसी गण के अधिपति रहे थे। यह संशोधन का विषय है। वाल्मिकी ने रामचंद्र के कार्यकाल में रामायण ग्रंथ की रचना की थी। वैसे महाभारत ग्रंथ की रचना पांडवों के कार्यकाल में नहीं हुई थी। बहुत काल बीत जाने के बाद हुई थी। कब हुई इसका काल अभी तक निश्चित नहीं हो सका है।

आर्यभट्ट ने कलि आरंभ या महाभारत काल ईसा पूर्व ३१०० निश्चित किया है। वैसेही कर्नाटक में ऐहोल स्थित पूर्व चालुक्य कालीन शिलालेख में भी यही काल अंकित है। महाभारत रचना काल पाणिनि पूर्व समझना चाहिए। पाणिनि के बाद संस्कृत भाषा का आलंकारिक बनना आरंभ होता है। जब कि महाभारत की भाषा बहुत ही सरल है। इसका काल ईसा पूर्व १५०० - १२०० लगभग हो सकता है। आर्यभट्ट व्दारा कलि आरंभ काल निश्चित हो जाने के बाद अब सभी प्रागैतिहासिक घटनाओं के काल पीछे और बहुत पीछे जा रहे हैं।

महाभारत की रचना के बाद व्यासजी अंतर्धान हो जाते हैं। उनका उदय पुराण काल में होता है। पुराण रचना उत्तर गुप्त काल में या इसवी सन के पांचवे शतक में आरंभ होकर अंतिम पुराण श्रीमद् भागवत दसवें शतक में लिखा गया, ऐसा माना जाता है। विजयनगर

साम्राज्य काल यानी पंधरवें शतक में भी कुछ कथाएं लिखकर अनेक पुराणों में घुसेड दी गई। सभी पुराणों में और उनके समाकालीन तथा बाद के सभी संस्कृत रचनाओं में श्री व्यासजी का बहुत ही विपुल प्रमाण पर उदात्तीकरण किया गया है। वेदों के उध्दारक, सनातन धर्म के पुनःसंस्थापक, भागवत धर्म के प्रचारक और विस्तारक, समाज के धार्मिक सुधारक, अनेक शास्त्रों में संयोजक इत्यादि इस प्रकार के अनेक सद्‌गुण और विशेषण उनके नाम के पीछे जोड दिये गये। महाभारत ग्रंथ रचना काल से पुराण काल आरंभ तक यानी ईसा पूर्व १५०० से इसवी सन ५०० तक संस्कृत में ज्ञान, भौतिक और आधात्मिक की सभी शाखाओं में विपुल प्रमाण में अगणित, मौलिक और गंभीर स्वरूप के ग्रंथ निर्माण हुए। वैसे ही बौध्दों के और जैनों के भी ग्रंथ निर्माण हुए। इन ग्रंथों में कहीं पर भी व्यासजी का कोई महत्त्वपूर्ण उल्लेख दिखाई नहीं देता। महाभारत काल में भीष्म, विदुर, कृष्ण, युधिष्ठिर, परशुराम, द्रोणाचार्य, जरासंध, शिशुपाल इत्यादि अनेक व्यक्तियों के विचार और कार्य कुछ महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। वैसे व्यासजी का नहीं। उनकी भूमिका सिर्फ कुरुवंशियों के जेष्ठतम व्यक्ति के रूप में ही अंकित की गई है। इससे अधिक नहीं।

वासवेय । पराशर मुनी ने अपने पुत्र सत्यवतीनंदन का नाम व्दैपायन रखा और इनका वर्ण काला था। इसलिए ये कृष्णव्दैपायन कहलाए। महाभारत कथा (१-६३) के अनुसार वसु उपरिचर की पुत्री वासवी या मत्स्यगंधा, सत्यवती और वासवी का पुत्र वासवेय या कृष्ण द्वैपायन हुआ। वासवेय का लघुरूप व्यास हुआ। इस प्रकार से वे वसु की संतान रहे। वे बहुत ही विद्वान और ज्ञानवान थे। उनके नाम के पीछे वेद की उपाधी जोड दी गई और वे वेदव्यास कहलाए। पुराणों में व्यासजी का एक और नाम बादरायण ऐसा भी मिलता है। लेकिन पुराणों

के पूर्व काल में बादरायण और व्दैपायन ये दोनों भिन्न व्यक्ति रहे हैं। महाभारत में बादरायण का नाम कहीं पर भी दिखाई नहीं देता। बौधायन श्रौतसूत्र के अनुसार दोनों के गोत्र भिन्न हैं। अथर्ववेद में ४-३७ और ७-५९/१०९ सूक्तों के दृष्टा ऋषि बादरायणि रहे हैं। वैसे ही ब्रह्मसूत्र और कुछ दर्शन ग्रंथों में बादरी, बादरायणि के अनेक सूत्र मिलते हैं। लेकिन वहां बादरी और बादरायण व्यासजी से सर्वथा भिन्न हैं। पुराणों का रचना काल पांच छह सौ वर्ष तक रहा था। इसलिए १८ पुराण और भागवत किसी एक व्यक्ति की रचना नहीं है। उनमें अनेक व्यक्तियों का सहभाग रहा था। जैसे आदि शंकर ने चार आश्रम या पीठ स्थापन किए और सभी पीठस्थ गत बारह सौ वर्षों से शंकराचार्य कहलाए जाते हैं। वैसे ही श्री व्यासजी का एक महत्त्वपूर्ण पीठ रहा था। वहांपर अनेक पीठस्थ हुए। उनमें से कुछ पीठस्थ आचार्यों ने पुराणों की रचना की थी। लेकिन ये सभी रचनाकार श्री व्यासजी के नाम सें प्रसिध्द हुए। उन पीठस्थ आचार्यों में बादरायणाचार्य नाम का भी एक आचार्य रहा था। उसकी रचना कुछ महत्त्वपूर्ण रही होगी। इसलिए बादरायण का नाम आगे आया। वे भी 'व्यासजी' कहलाये। हमारे पास ऋषियों के नामों की ऐसी ही परंपरा चलती आरही है।

अब प्रश्न यह है कि व्यासजी वेद व्यास कब और कैसे बने। शंकर आदि भाष्यकारों ने उपनिषदों पर अपने अपने स्वतंत्र भाष्य-ग्रंथों की रचना की है। वैसे श्रीव्यासजी ने किसी वेद पर, वेद के किसी अध्याय या सूक्त पर कुछ विस्तृत भाष्य लिखकर कोई लिखित ग्रंथ रचना की है ऐसा कहीं पर भी दिखाई नहीं देता। पुराणों में कहीं पर भी वेद के किसी सूक्त संबंध में कुछ विस्तृत विवेचन भी नहीं किया गया। वेद में कथित दर्शन या तत्त्वज्ञान संबंध में कुछ चर्चा नहीं की। पौराणिकों का मानना है कि पुराणों में जो भी कुछ लिखा है। वह सभी वेदों का सार है। ऐसा जब है तो व्यासजी के पीछे वेद की उपाधी क्यों जोड दी गई ?

पुराण भक्तों का मानना है कि वेद आरंभ में एक थे। व्यासजी ने उसके चार भाग किए। इसलिए वे वेदों को प्रथक करने वाले वेदव्यास कहलाए । वेदों में संहिता भाग ब्राह्मण विभाग अलग अलग किया गया। संहिताओं को शाखा बध्द किया गया। वेद लुप्त हो गये थे। उनका उध्दार किया गया। जनता में वेदों का प्रचार किया इत्यादि। इन कारणों से वे वेदव्यास कहलाए।

प्रथम तो वेदों को एक मानना सर्वथा अज्ञान मूलक है। चारों वेदों की प्रकृति भिन्न-भिन्न है। चारों वेदों के विषय ही भिन्न-भिन्न हैं। ऋग्वेद के संपूर्ण मंत्र सुंदर आकारबध्द और स्वरयुक्त हैं। यजुर्वेद पद्य और गद्य शैली में है। सामवेद संपूर्णतया नाद और स्वर बध्द है। अथर्ववेद के मंत्र संपूर्णतया मुक्त हैं। इसमें छंद, स्वर और आकार, सभी मुक्त हैं। ऋग्वेद में अन्य तीनों वेदों के नाम आते हैं। वैसे ही यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद में अन्य तीनों वेदों के नाम मिलते हैं। इससे स्पष्ट है कि ऋग्वेद संकलन के समय अन्य तीनों वैदों का स्वतंत्र रूप से अस्तित्त्व था। पुरोणों में कथा है कि क्षीरसागर में भगवान विष्णू के नाभि कमल से ब्रह्माजी की उत्पति हुई और ब्रह्माजी के चारों मुखों से चार वेद निकले (भागवत ३-१२-९६) और उनके चारों हाथों में चार वेद रहे। वैसे ही ब्रह्माजी ने यज्ञ किया। यज्ञनारायण प्रसन्न होकर प्रकट हुए। उनके भी चारों हाथों में चार वेद थे। यज्ञनारायण ने चारों वेद ब्रह्माजी को दिये।

आरंभ से ही वेद श्रुति ग्रंथ रहे हैं। वेद मंत्रों का कंठस्थ पाठांतर किया जाता था। पाठांतर से ही गुरु शिष्यों को वेद मंत्र सिखाते थे। आरंभ से ही संहिता मंत्रों का ही पाठांतर किया जाता था। ब्राह्मण मंत्रों का नहीं। इस तरह संहिता विभाग से ब्राह्मण विभाग आरंभ से ही पृथक रहा था। संहिता मंत्रों के संकलन के चार पांच सौ वर्षो बाद ब्राह्मण मंत्र निर्माण हुए। इस अवधि में संहिता मंत्रों के पाठांतर और

पाठांतर के नियम पूर्ण रूप से विकसित होकर समाज में रूढ हो चुके थे। पाठांतर में विकृतिपाठ या घनपाठ प्रणाली का उदय शायद इसी अवधि में हुआ या बाद में हुआ होगा। इस प्रकार पाठांतर प्रणाली व्दारा वेद विशुध्द स्वरूप से आरंभ से अब तक वैसे ही चले आ रहे हैं। इसलिए संहिता और ब्राह्मण विभाग को किसी आचार्य ने विभक्त किया है ऐसा मानना सर्वथा अज्ञान मूलक है।

अब रहा वेद लुप्त होने का प्रसंग। ऐसा माना जाता है कि वेदों पर ही सारी चराचर सृष्टि का अस्तित्त्व टिका हुआ है। वेद लुप्त होते हैं तो सारी चराचर सृष्टि नष्ट होनी चाहिए । प्रयलकाल में ही वेद ब्रह्म में विलीन हो जाते हैं। इसलिए वेदों का लोप होना और उनका उध्दार करना यह कल्पना ही सर्वथा गलत है। हाँ, ऐसा हो सकता है कि संहिता पाठांतर करने वाले आचार्यों की संख्या किसी प्रदेश में कम हो जाती थी। भारत देश बहुत ही विशाल है। पाठांतर करने वाले आचार्यो की संख्या किसी प्रदेश में कभी कम हो जाती थी। तो दूसरे प्रदेश में उनकी संख्या ज्यादा रहती थी। कुछ काल जाने पर सभी प्रदेशों में समान हो जाती थी।

ऐसी वास्तविकता रही थी। तो सत्यवतीनंदन को वेदव्यास क्यों माना जाता था? धुवां निकलता है तो कहीं पर भी अग्नि का अस्तित्त्व रहना चाहिए। इस नियम से यह स्पष्ट हो जाता है कि वेदव्यासजी के नामकरण के पीछे कोई तो अति सबल कारण रहना चाहिए। भागवत रचना के बाद व्यासजी का महत्त्व बढा था। तब से यानी गत हजार ग्यारह सौ वर्षो तक भारत के सभी प्रदेशों के समाज में व्यासजी के प्रति अपार श्रध्दा, आदर बसा हुआ है। शंकर ने अपने संपूर्ण भाष्य ग्रंथों में व्यासजी का उल्लेख और उनकी रचनाओं का विवेचन कहीं पर भी नहीं किया। लेकिन उनकी अन्य रचनाओं में और स्तोत्रों में पुराण ग्रंथ और व्यासजी के प्रति उन्होंने बहुत ही आदर युक्त श्रध्दा प्रदर्शित की है।

दक्षिण में अलवारों के समकक्ष व्यासजी को भी स्थान दिया गया। इस प्रकार जन मानस में व्यासजी का स्थान आदरणीय रहा है और यह गत हजार वर्षो से ऐसा ही चला आ रहा है। इसके कारण भी सबल रहना चाहिए। लेकिन पुराण ग्रंथों में और उनके समाकालीन रचनाओं में कोई सयुक्तिक कारण नहीं दिखाई देते।

शायद ऐसा भी एक कारण रह सकता है। महाभारत युध्द में बहुत ही बडे प्रमाण में मानव और वित्त हानि हुई। गंगा और सिंधू प्रदेश चैतन्य हीन हो गया था। वेद मंत्रों का पाठांतर कंठस्थ करने वाले आचार्यो की संख्या बहुत ही कम हो गई थी। कुछ मारे गये। कुछ दक्षिण की ओर चले गये। वेदाध्ययन की पाठशालाएं बंद हुई। विद्यार्थी भी न रहे। इस प्रकार उत्तर भारत में वेद विद्या लोप हुई। व्यासजी ने इस गंभीर परिस्थिति को समझा। वेदाध्ययन की पुनःस्थापना करने के लिए उन्होंने अथक प्रयत्न किया। पाठशालाएँ पुनः स्थापित की । पूरे प्रदेश में अनेक आश्रम और पाठशालाओं का निर्माण हुआ। दक्षिण से आचार्यो को बुलाया गया। विद्यार्थी जमा किए। उनके उदर निर्वाह की व्यवस्था की। इस प्रकार का प्रयत्न दो तीन सौ वर्षो तक अखंडित चलता रहा। वेदाध्ययन और वेद प्रसार का कार्य व्यासजी ने बहुत ही निष्ठा से किया। उनके बाद आश्रमों के आचार्यो ने भी इस प्रसार कार्य को निष्ठा के साथ आगे बढाया। इसका संकेत महाभारत के एक श्लोक (१-६३ - ८) से मिलता है।

विव्यास वेदान्यस्मात्स तस्माद्व्यास इति स्मृतः ।

व्यासजी ने वेद और व्राह्मण ग्रंथों पर अनुग्रह करने के लिए वेदों का विभाग या विव्यास किया था। इसलिए स्मृति ग्रंथों में उनको व्यास कहा गया। वेदाध्ययन प्रणाली में सुधार किया गया। चारों वेद और उनकी शाखाओं के अध्ययन के लिए पृथक पृथक पाठशालाएं और आश्रम निर्माण किए गए। ब्राह्मण ग्रंथोके अध्ययन के लिए भी अलग

पाठशालाएं खोली गई। इस प्रकार वेदों के अध्ययन के लिए अनेक विभाग किए गए।

मौर्य साम्राज्य का अस्त होने के बाद शकों के आक्रमण पश्चिम भारत में आरंभ हुए। शकों के बाद कुषाण, म्लेच्छ, हूण इत्यादि आये। अनेक लडाइयाँ हुई। कभी आक्रमणकारी जीते। कभी हारे। लेकिन पश्चिम और मध्य भारत में बडी मात्रा में तबाही हुई। समाज का काफी विनाश हुआ। यह क्रम उत्तर गुप्तकाल तक यानी चौथे पांचवें शतक तक चलता रहा। इस अवधि में अनेक विव्दान मारे गये। अनेक आश्रम और पाठशालाएँ नष्ट हुई। वेदाध्ययन का काम खंडित हुआ। कहीं बंद भी हुआ। पुराणों के रचना काल में यानी उत्तर गुप्तकाल में वेदाध्ययन का पुनर्विस्थापन किया गया। पाठशालाएँ बनाई गई। अध्यापक बुलाए गये। चारों ओर वेदाध्ययन का कार्य आरंभ हुआ। अनेक आश्रमों के आचार्यो ने बडी निष्ठापूर्वक वेद प्रसार का कार्य किया। यह क्रम दो तीन सौ वर्षो तक चलता रहा। चारों ओर वेद मंत्रों के पाठांतर निष्ठापूर्वक होते गये। समाज मे चैतन्य आया। इतिहासज्ञ कहते हैं कि राष्ट्रकूटों का काल यानी इ.स. ९०० तक भारत में स्वर्ण युग रहा था। वेद प्रसार के कार्य में जिन आचार्यों ने भाग लिया था, वे सब वेदव्यासजी कहलाये। क्योंकि समाज को ज्ञान था कि भारतीय युध्द के बाद व्यासजी ने वेदाध्ययन का उध्दार किया था। उन्होंने ही इस काल में वेद प्रसार का कार्य किया है। इस कारण व्यासजी के नाम के साथ 'वेद' जोड दिया गया।

अब तक व्यासजी के उपकारों का कुछ वर्णन किया है। अब इनके कुछ अपकारों को देखेंगे।

संस्कृत भाषा में व्यासजी के नाम पर अति विपुल प्रमाण में रचना पाई जाती है। सभी पुराणों कि रचना व्यासजी ने ही की है। ऐसा माना जाता है। पुराणों की संख्या भी १८ से २६ तक गिनाई जा सकती

है। आधुनिक इतिहासकार पुराणों का रचना काल उत्तर गुप्तकाल से राष्ट्रकूटों के काल तक मानते हैं। यानी यह रचना काल पांच छह सौ वर्षों का रहता है। इन पुराणों में प्रथम कौन सा है यह निश्चित करना बहुत ही कठीण है। इस विषय में देशी और विदेशी विव्दानों में एक वाक्यता दिखाई नहीं देती। सभी पुराणों में श्रीमद् भागवत पुराण का महत्त्व सब से ज्यादा माना जाता है। इस पुराण को और इस में प्रतिपाद्य विषय को हम प्रातिनिधिक मान सकते हैं। पुराणों में अनंत कथाओं का वर्णन है और अनंत विषयों का निरूपण किया गया है। इन सभी पुराणों का एक लेख में विवेचन नहीं किया जा सकता। इसलिए हम एक कथा का स्वरूप देखेंगे।

<u>ध्रुवकथा</u> । श्रीमद् भागवत के चतुर्थ स्कंद में अध्याय ८ से १२ तक ध्रुवजी की कथा आती है। वैवस्वत मनु के पुत्र उत्तानपाद, उत्तानपाद की दो पत्नियां, एक सुनीति उसका पुत्र ध्रुव और दूसरी सुरूचि उसका पुत्र उत्तम। बालक ध्रुव का उसकी सौतेली या सावत्र माता ने अपमान किया। ध्रुव ने तपस्या की। भगवान विष्णु ने वरदान दिया। ध्रुवजी आरण्य से घर आये। उत्तानपाद ध्रुव को राज्य देकर वन चले गये। ध्रुवजी सम्राट बने। उनके सौतेले भाई उत्तम का ध्रुवजी पर बहुत अनुराग था। इसलिए उत्तम ध्रुव को सारा राज्य सौंप कर ऐष आराम करने लगा। एक बार उत्तम अपनी माता को लेकर हिमालय की सैर करने गया। वहां से गंधर्वों के प्रांत में गया। किसी यक्ष से मुठभेड हुई। यक्षोंने उत्तम को मार डाला और उसके साथ ही उसकी माता को भी मार डाला। खबर ध्रुव के पास पहुंची। ध्रुव को रोष हुआ। सैन्य लेकर गधर्वोंपर चढा। यक्षों ने घोर युध्द किया। अनेक यक्ष मारे गये। हाहाकार मचा। ब्रह्माजी ने मनु को ध्रुवजी को समझाने भेजा। उधर कुबेरजी भी आये। दोनों ने ध्रुवजी को समझाया। युध्द बंद हुआ और

ध्रुवजी को वरदान मिला।

मनुजी समझाते हैं कि जन्म और मरण ईश्वर के आधीन है। इस नियम को तू अपने हाथ में क्यों लेता है और यक्षों का वध करता है। दूसरा उपदेश तेरे भाई उत्तम का और उसकी माता का वध किसी एक दो यक्षों ने किया है। उन अपराधियों को मार डाल। बाकी के निरापराधी यक्षों को मार कर पाप का अधिकारी क्यों होता है। अब कुबेरजी कहते हैं।

न भवानवधीद्यक्षान्न यक्षाः भ्रातरं तव ।
काल एव हि भूतानां प्रभूरप्ययभावयोः ॥ भागवत ४-१२-३

वास्तव में न तुमने यक्षों को मारा है और न यक्षों ने तुम्हारे भाई को मारा है। समस्त जीवों की उत्पति और विनाश का कारण तो एक मात्र काल है। मै और तू ये सब उपाधियां जीव के अज्ञानवश होती है। इसलिए अब तू यक्षों को मार कर पाप का भागी क्यों बनता है। युध्द बंद कर इत्यादि।

सभी पुराणों में इसी प्रकार की कथाएं हैं। घोर संकट आना, उग्र तपश्चर्या करना, भगवान का प्रकट होकर वर देना और वापस आकर मनवांच्छित फल पाना। कोई कार्य नहीं करना और कोई कष्ट नहीं उठाना। सब प्रकार के संकट मिट जाते हैं। यही कथा सुदामा की। व्दारका से सुदामा घर आया। देखता है कि उसकी झोपडी या कुटि चली गई। उसके स्थान महल खडा हुआ। महल, नौकर, चाकर, सुवर्ण, धन, धान्य से भरा हुआ मिला। विचारधारा ऐसी है कि यह जगत माया है। 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या'। कुटुंब में स्त्री, पुत्र, माता, पिता, भाई, बहन इत्यादि सभी अपने अपने स्वार्थवश व्यक्ति से संलग्न रहते हैं। ये सभी उपाधियां या नाते जीव के अज्ञानवश होते हैं। संसार में अनुराग न रखकर भगवान में चित्त लगाना चाहिए जिससे मुक्ति मिलती है और जन्म मरण का चक्कर भोगना नहीं पडता। इत्यादि

इत्यादि। आगे चल कर इसी विचारधारा और तत्त्वज्ञान का विकास होकर भक्ति मार्ग का उदय हुआ। अनेक संत, महात्मा, भक्त, अलवार निर्माण हुए। इन्होंने संस्कृत और सभी देशी भाषाओं में विपुल प्रमाण में ग्रंथ लिखे। इन सभी ग्रंथों में इसी तत्त्वज्ञान या विचारधारा का उदात्तीकरण और विशदीकरण किया गया। इनसे अनेक संप्रदाय, पंथ, निर्माण हुए। पुराण काल से बीसवें शतक तक पूरे भारतीय समाज पर इसी विचारधारा का प्रभाव रहा, अधिकार रहा।

<u>विसंगतियां</u>। व्यासजी को वेदव्यास कहा जाता है। इसका अर्थ ऐसा कि वेदों में वर्णित ज्ञान, विचारधारा, घटनाएं, इन सब को व्यासजी शिरोधार्य मानते हैं और उनके ये संपूर्ण रूप से अनुयायी रहे हैं। वेदों का ज्ञान और विचारधारा के आधार पर ही व्यासजी ने पुराणों की रचना की और इनमें सामान्य जनों को समझाने के लिए ही वैदिक ज्ञान का विशदीकरण किया। सत्यवतीनंदन ही व्यासजी हैं। इसका अर्थ ऐसा कि महाभारत में उनकी व्यक्तिशः उपस्थिति रही थी। महाभारत कालीन सारी घटनाएं उनके सामाने हुई थी। महाभारत कालीन विचारधारा, दर्शन और गीता में वर्णित ज्ञान से व्यासजी परीचित थे और उस दर्शन को व्यासजी संपूर्ण रूप से मानते थे। ऐसा माना जाता है कि गीता ज्ञान और कृष्ण भक्ति ही सारे पुराणों में वर्णित की गई है। अब हम यह देखेंगे कि क्या वेद, गीता और पुराणों में वर्णित विचारधाराओं में कुछ विसंगतियाँ दिखाई देती हैं या नहीं।

उपरोक्त ध्रुव की कथा में कुबेरजी का उपदेश (भागवत्४-१२-३)

गीता में कृष्ण अर्जुन को कहते हैं -

मयैवेते निहताः पूर्वमेव

निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन् (गीता११-३३)

मैंने इनको पहले ही मार डाला है, हे अर्जुन, तू सिर्फ निमित्त

मात्र हो जा और इनको मार डाल। युध्द में जो सामने खडा होता है वे सब शत्रु हैं। युध्द में गुरु भाई बंधु इत्यादि नाते नहीं रहते। वे सब शत्रु हैं और वे वध करने योग्य होते हैं।

इस कथा में मनुजी और कुबेरजी कहते हैं कि जन्म मरण ईश्वर आधीन हैं। मानव को उसमें दखल नहीं देना चाहिए। लेकिन गीता कहती है कि हे अर्जुन तू कर्म कर, युध्द कर और सब को मार डाल।

वेद कहते हैं - योS स्मान्द्वेष्टि यंच वयं व्दिष्म: (यजु २-१५) जो हम से व्देष करता है उससे हम व्देष करते हैं और नष्ट करते हैं।

इस कथा में यक्षों ने उत्तम को मार डाला और उसकी निहत्थी माता सुरूचि को ही मार डाला । स्त्री की हत्या करना घोर पातक है। ध्रुव का अपने भाई और माता के हत्त्यारे यक्षों को संपूर्णतया नष्ट करना चाहिए ऐसा गीता कहती है और वेद भी आज्ञा देते हैं। लेकिन भागवत कहती है ध्रुव बस कर और यक्षों के छोड दे। वहां पर यक्षों ने सुरूचि को मार डाला। स्त्री को मारना घोर पातक है। यह अपराध क्या मनुजी को मालूम नहीं था? मनुजी ने इस अपराध के लिए यक्ष को क्या दंड दिया? कुछ भी नहीं। मनुजी मौन हो गये। क्यों? कोई उत्तर नहीं मिलता।

गीताकार कृष्ण को पुराण कर्ता व्यासजी ने नीरा मुर्ख ठहराया है। इस कथा में मनुजी कहते हैं कि उत्तम और उसकी माता को एक यक्ष ने मारा है। इसलिये ध्रुव, तू एक यक्ष को मार। बाकी के यक्ष निरापराधी हैं। उनको तू क्यों मारता है? महाभारत में अपराधी सिर्फ दुर्योधन, दु:शासन, कर्ण और शकुनि थे। कृष्ण को कहना चाहिए था कि हे अर्जुन, तू सिर्फ दुर्योधन और दु:शासन को मार। अन्य किसी को नहीं? लेकिन कृष्ण ने अठरा अक्षोहिणी सैना को नष्ट करवाया। व्यासजी का कर्तव्य था कि भारतीय युध्द के समय ब्रह्माजी और मनुजी को युध्दभूमि में भेजते और पांडवों को समझाते कि सिर्फ दुर्योधन और दु:शासन को दंड देना चाहिए। अन्य लोगों को नहीं। तो यह मानव हानि क्यों होती।

राजसूय यज्ञ के पहले अर्जुन दिग्विजय करने गया था। अनेक राजाओं के साथ युध्द हुआ। मानव हानि हुई। उस समय व्यासजी ने मनुजी को अर्जुन के पास क्यों नहीं भेजा। इन राजाओं ने अर्जुन का क्या अपराध किया था। कुछ भी नहीं। अर्जुन को सिर्फ धन चाहिए था। व्यासजी धन कुबेर से दिलवा सकते थे। अर्जुन को कुबेर के साथ युध्द करवा सकते थे। कुबेर युध्द से हत्या कम हो सकती थी। लेकिन ऐसा नहीं हुआ। महाभारत काल में कर्म प्रधान था। अपना अपना कर्म करो। मानव हत्या गौण थी। वैसे ही रामायण काल में। रावण ने अपराध किया था। रामजी ने सिर्फ रावण कोही मारना चाहिए था। अन्य राक्षसों को नष्ट करने की क्या आवश्यता थी। लेकिन वहां पर भी कर्म प्रधान था। महाभारत में पांडवो की मांग सिर्फ पांच गावों की थी। कृष्ण के लिए पांडवों को पांच गाव देना कोई बडी बात नहीं थी। कृष्ण ने सुदमा को एक महल दे दिया था। तो पांडवों को भी कृष्ण पांच गाव दे सकते थे। इतनी मानव हानि नहीं होती थी।

ध्रुव का अपमान हुआ। इसलिए व्यासजी ने उसको तपस्या करने के लिए वन में भेज दिया। महाभारत में एकलव्य का अपमान हुआ। लेकिन एकलव्य ने वन में जाकर तपस्या नहीं की। उसने द्रोण की प्रतिमा बनाकर अस्त्र विद्या सीखी। उसने पूर्ण रूप से कर्म किया।

वैसे ही शकुंतला का अपमान हुआ। दुष्यंत ने निकाल दिया। शकुंतला रोते हुए नहीं बैठी और न कहीं तपस्या करने गई। उसने भरत को बडा किया। भरत को सिखाया। अस्त्र विद्या में पारंगत किया। दुष्यंत के सामने युध्द में भरत को खडा किया। वैसे ही सीताजी थी। सीताजी कहीं तपस्या करने नहीं गई। सीताजी ने मुनि के आश्रम में लव कुश को जन्म दिया। उनको सिखाया। धनुर्विद्या में पारंगत किया। अश्वमेध का घोडा बांध दिया गया। युध्द हुआ। युध्द में लव कुश ने हनुमान, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न आदि का पराभव किया। राम के

सामने भी युध्द में खडे हुए। सब ने कर्म किए और कठोर कष्ठ उठाये।

अर्जुन भी तपश्चर्या करने गया था। लेकिन उसकी तपस्या अलग प्रकार की रही थी। अर्जुन ने भगवान पशुपति की तपस्या की थी। भगवान शंकर किरात का रूप धारण कर आये। अर्जुन की परीक्षा लेने दोनों में युध्द हुआ। भगवान शंकर, अर्जुन का युध्द कौशल्य देखकर प्रसन्न हुए। उन्होंने अर्जुन को वरदान नहीं दिया। बल्कि भगवान ने उसको अस्त्र विद्या का दान दिया। अस्त्र कैसे चलाना यह सिखाया। भगवान शंकर ने उसे अपना नियत कर्म करने का आदेश दिया।

पुराण रचनाकार यदि महाभारत काल में उपस्थित होते तो वे पांडवों को घोर से घोर तपश्चर्या करने वन में भेज देते थे। तपश्चर्या से कोई भगवान प्रसन्न होता था और वरदान देता था। पांडव लोग वरदान पाकर वापस आते थे। दुर्योधन के मन में ज्ञान उत्पन्न होता था और दुर्योधन पांडवों को उनका आधा राज्य दे देता था। महाभारत युध्द की घोर हानि नहीं होती थी। व्यासजी का महाभारत काल में कोई महत्त्व नहीं था। वह काल कर्म प्रधान और कठोर परिश्रम का रहा था। भगवान के वरदानों का कोई मूल्य नहीं था।

पुराणों में एक कथा आती है। सावित्री सत्यवान की। सत्यवान का पिता राज्य पद से हटा दिया जाता है। अपने निर्धन माता पिता को लेकर सत्यवान अपनी पत्नी सावित्री के साथ वन में रहता है और लकडी बेचकर उदर निर्वाह करता है। सत्यवान को वन में मुर्छा आती है। सावित्री तपस्या करती है। कई दिनों के बाद यमराज प्रसन्न होते हैं और सावित्री को वरदान देते हैं। सत्यवान जीवित होता है। घर आता हैं तो उसके निर्धन पिता को राज्य मिल जाता है। वैसे ही रामायण काल में मेघनाथ की शक्ति से लक्ष्मण मूर्छित होता है। रामजी विलाप करते हैं। वैद्य को ढूंढ लाया जाता है। लक्ष्मण के लिए औषधी निश्चित होती है। औषधी लाने के लिए हनुमान को आज्ञा होती है। औषधी न समझ पाने

से हनुमान पूरी द्रोणगिरी उठाकर लाता है। वैद्य औषधी लक्ष्मण को पिलाता है। हनुमान गिरी को वापस रख आता है। सूर्योदय तक लक्ष्मण स्वस्थ होकर उठ बैठता है। यदि उस काल व्यासजी वहां होते तो पहले वे रामजी को उपदेश करते। यह सब माया है। बंधु पत्नी उपाधियां जीव की अविद्या है। ये सब छोड कर भगवान का अनुराग करो। मुक्ति मिल जाएगी। इस प्रकार के उपदेश से यदि रामजी का दुःख नहीं जाता तो व्यासजी रामजी को समुद्र में नाक तक के पानी में हाथ उंचा करके तपस्या करने खडे कर देते। कोई भगवान आता और वरदान देता। जिससे लक्ष्मण उठ बैठता और रावण सीता को लाकर अर्पण कर देता। आगे जीव हानि बच जाती।

व्यासजी को जनमेजय का सर्प यज्ञ मालुम था। उस काल, यज्ञ में इतना सामर्थ्य था कि बलाढ्य से बलाढ्य शत्रु को यज्ञ में आहुति देकर नष्ट किया जा सकता था। परिक्षित ने तक्षक से बचने का प्रयत्न किया था लेकिन वह असफल रहा। ऐसा महाभारत में उल्लेख आता है। भागवत के अनुसार किसी भी प्रकार का प्रयत्न न कराते हुए व्यासजी ने परिक्षितको देह त्याग के लिए गंगा तट पर बिठा दिया। शायद व्यासजी को मनुष्य देह से घृणा थी। यह शरीर नश्वर है। जल्दी से मानव देह त्याग कर मुक्ति मिलाना चाहिए। भागवत रचना के पूर्व आदि शंकर का अव्दैत सिध्दांत और मायावाद प्रस्थापित हो चुका था। जगत यह मिथ्या है। संसार माया है। संसार त्याग कर के मानव संन्यास लेना चाहिए। व्यासजी संन्यास ग्रहण करने को प्रवृत नहीं करते। वे तो देह त्याग करने को प्रवृत करते हैं। संसार के बंधनों से मुक्त होना चाहिए। संसार, कुटुंब, ग्राम, देश, राष्ट्र आदि उपाधियां जीव की अविद्या है। यह सब माया है। मानव को देह गेह का भेद मिटाकर भगवान में अनन्य भाव से चित्त लगाना चाहिए। इत्यादि। संसार के प्रति मानव का कोई कर्तव्य नहीं है। किसी भी प्रकार के कर्म करने की कोई आवश्यता नहीं

है। किसी फल की इच्छा है, कोई संकट आया है तो तपस्या करो। व्रत वैकल्य करो। सब मनोवांच्छित फल मिल जाएंगे। किसी भी प्रकार से कोई प्रयत्न करने की आवश्यता नहीं है।

व्यासजी सभी पुराणों में कहते हैं कि हमने वेदों का सार लिख दिया है। लेकिन किस वेद का क्या सार है इसका स्पष्टीकरण और विवेचन स्पष्ट रूप से कहीं पर भी दिखाई नहीं देता। उनका कहना है कि पुराणों में जो कुछ लिखा हुआ है। वह सभी तो वेदोंका सार है। लेकिन पुराणों में वर्णित विचारधारा, दर्शन, धर्म इत्यादि संपूर्ण रूप से वेदों के और गीता के विरूध्द है। व्यासजी की सारी रचना वेदों के विरूध्द है फिर भी हम उनको वेदव्यास कहते हैं यह हमारा घोर अज्ञान है।

चारों वेद कर्म प्रधान हैं। 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि' (यजु:४०-२) सौ वर्ष कर्म करो। 'यया कयाच विधया बहु अन्नम् प्राप्नुयात्' (तैत्तिरीय उपनिषद) इस, उस और विविध प्रकार से बहुत अन्न और धन प्राप्त करो। वेदों में मानव को अपने कुटुंब के प्रति, देश के प्रति, राष्ट्र के प्रति कर्तव्यों का विस्तारपूर्वक आदेश दिये हुए हैं। वेदों में मुक्ति और मोक्ष का कहीं पर भी उल्लेख नहीं मिलता। श्रीकृष्ण ने गीता का उपदेश अर्जुन को कर्म करने के लिए ही दिया था। 'कमण्येवाधिकारस्ते' (गीता-२-४७) कर्म करने में ही तेरा अधिकार है। 'नियतं कुरु कर्म त्वं' (गीता-३-८) तू तेरे नियत कर्म कर। इत्यादि इत्यादि। इसी प्रकार व्यासजी व्दारा पुराणों में वर्णित अनेक संकल्पनाएं, विचारधारा, दर्शन, जीवन प्रणाली, तत्त्वज्ञान वेदों में कहीं पर भी दिखाई नहीं देते। माया, संसार मिथ्या, संन्यासवृति, कुटुंब, देश, राष्ट्र को उपाधी मानना, संसारिक उपाधियां जीवकी अविद्या मानना, अकर्मण्य व्यवहार, मोक्ष और नरक की संकल्पनाएं इत्यादि वेदों में और गीता में नहीं हैं।

अब हम देखेंगे पुराणों का और भागवत का प्रभाव भारतीय समाज पर कैसा रहा है।

पुराणों का प्रभाव इतिहास बताता है कि राष्ट्रकूटों तक भारतीय समाज बहुत ही कार्य प्रवण और चैतन्यशील रहा था। ईसा पूर्व चौथे शतक में ग्रीक सम्राट सिकंदर ने वायव्य भारत को जीत कर अपना अधिकार जमाया। उस काल सिंधू और गंगा प्रदेशों में राजकीय हालत बहुत ही कमजोर रही थी। पूरा उत्तर भारत छोटे छोटे राज्यों में बंटा हुआ था। मगध की केन्द्रीय सत्ता नंद के हाथ में थी। वह भी बहुत कमजोर रही थी। मगध में आर्य चाणक्य आगे आया। उस काल भारतीय राष्ट्र की सीमाएं खैबर घाटी तक रही थी। खैबर मगध से लगभग १६०० किलो मीटर दूर है। फिर भी अपने राष्ट्र पर विदेशियों के अधिकार से चाणक्य व्यथित हुआ। उसने प्रयत्न किया। भारतीय समाज भी तन, मन, धन देकर चंद्रगुप्त के नेतृत्त्व में जमा हुआ और ग्रीकों को मार भगाया। ग्रीकों के बाद बेक्टिरीयन, पार्थीयन आये। उनको भी निकाल दिया गया। बाद में शक आये। मध्य भारत में स्थित अवंती के विक्रमादित्य ने शकों को मार भगाया। बाद में शकों को महाराष्ट्र के सातवाहनों ने ईसा के पहले शतक में हराया। कुषाण आये। उनको पंजाब तक रोक दिया गया। कुषाण बौध्द बन गये और भारतीय समाज में संपूर्णतया विलीन हे गये। बाद में शक, बर्बर, म्लेच्छ, हूण इत्यादि विदेशियों के आक्रमण होते गये। गुप्त कालीन राजाओं ने संघर्ष किया। कुमारगुप्त ने सभी विदेशियों को नष्ट किया और विदेशियों से भारत को निष्कंटक बनाया। कुमारगुप्त से राष्ट्रकूटों तक भारत में शांति बनी रही और यही काल स्वर्णयुग माना जात है। भारत में यथेच्छ संपन्नता बढी। इसी काल में पुराणों की रचना हुई। पुराण विचारों का भारतीय समाज पर प्रभांव पडना आरंभ हुआ।

आठवें शतक में शंकराचार्य आये। उन्होंने मायावाद का सिध्दांत रखा और संन्यासमार्ग का प्रचार किया। भारतीय समाज ने संन्यासमार्ग को तो ज्यादा नहीं अपनाया। लेकिन शंकर के मायावाद से समाज

निष्क्रिय होना आरंभ हुआ। आठवें शतक में समुद्र मार्ग से सिंध प्रांत में अरब आये। चित्तोड के बप्पा रावल ने उनको सिंध तक ही रोक दिया। अरब भी आगे नहीं बढे। उस काल अफगानिस्तान में कंदहार और काबुल में हिंदू राजाओं का अधिकार था। ग्यारहवें शतक के आखिर में महमद गजनी के आक्रमण आरंभ हुए। उसने सोमनाथ को नष्ट किया और यथेच्छ संपती लूटी। स्थानिक राजा लोक आचार्यों के पास गये और उनसे पूछे कि हमें क्या करना चाहिए। आचार्यों ने कहा कि कौन महमद और कैसा मंदिर, ये सब माया है। ये उपाधियां जीव की अविद्या है। हमें उससे क्या लेना देना। हमें हमारा पूजा पाठ करके आत्मज्ञान बढाना चाहिए। मंदिर नष्ट हो गया है। तो दूसरा मंदिर बांधकर उसमें दूसरी मूर्ति स्थापन करेंगे। इत्यादि।

महमद गझनी ने अनेकों मंदिर नष्ट किए। अगणित संपति लूटी। अनेकों नगर बरबाद हुए। स्त्रियोंपर बलात्कार हुआ। जनता लूटी गई, भ्रष्ट हुई और नष्ट हुई। सब प्रकार के अत्याचार हुए। लेकिन भारतीय समाज आपस में मिलकर विदेशियों का मुकाबला करने के लिए असमर्थ रहा। भारतीय समाज देश और राष्ट्र की संकल्पना खो बैठा था। राष्ट्र या देश पर की आपत्ति अपने खुद पर की आपत्ति होती है। यह समझ वह भूल बैठा था। क्योंकि पुराणों में कहीं पर भी देश और राष्ट्र के प्रति व्यक्ति के कर्तव्यों का उल्लेख नहीं मिलता। पुराणों में सारे विवेचन व्यक्ति को अपनी मुक्ति का प्रयत्न करना चाहिए। अपने परिवार के मुक्ति के लिए नहीं। क्योंकि परिवार की संकल्पना यह जीव की अविद्या है। पुराणों में वर्णित अकर्मण्य और आत्माकेन्द्रित तत्त्वज्ञान या विचारधारा का प्रभाव सारे समाज पर पांच छह सौ साल तक छाया रहा था। इस अवधि में विदेशियों का किसी भी प्रकार का उपसर्ग नहीं था। समाज में शांति थी जिससे समाज में विपुल मात्रा में संपन्नता बढी। समाज सुखासीन बना। धार्मिक जप जाप और व्रत वैकल्य में डूब

रहा था। इस प्रकार समाज संपूर्ण रूप से निष्क्रिय हो रहा था।

महमद गझनी के बाद महमद घोरी आया। उसने पृथ्वीराज को हराया तो जयचंद को आनंद हुआ। जयचंद जब हारा तो प्रतिहारों को खुशी हुई। इस प्रकार एक एक हिन्दू राजा नष्ट हुए। मुसलमानों का राज बढता गया। विदेशियों का अधिकार स्थिर हुआ। इस काल में कहीं पर भी संयुक्त रूप से मुसलमानों का प्रतिकार नहीं हुआ। मुसलमानों ने अनन्वित अत्याचार किए। हिन्दुओं को सहना पडा। समाज गुलाम बना और यह गुलामी सात आठ सौ वर्षों तक बनी रही।

आदि शंकर के बाद भक्ति मार्ग को उत्तेजना मिली। आगे उसमें विकास हुआ। देशभर में अनेक संत, महात्मा, भक्त निर्माण हुए। समाज भक्ति रस मे डूब गया। संत और भक्तों ने देशी भाषाओं में विपुल रचना की। पुराणों में वर्णित विचारधारा के आधार से ही संतोंने अपने विचार, संकल्पनाएं, दर्शन इत्यादि विकसित किए। पुराणों में तपस्या को महत्त्व था। संतो ने तपस्या के स्थान पर नामस्मरण को महत्त्व दिया। पुराण काल में व्रत वैकल्य, जप जाप्य, अनुष्ठान इत्यादि प्रचलित थे। लेकिन संत काल में इनको परमोच्च स्थान दिया गया। सारा समाज व्रत वैकल्य में डूबा रहा। हेमाद्री के चतुर्वर्ग चिंतामणी ग्रंथ में वर्ष के ३६५ दिनों में लगभग २००० से भी ज्यादा व्रतों का विस्तार पूर्वक उल्लेख किया गया है।

वेद काल में काम्य यज्ञ हुआ करते थे। ऐसे काम्य यज्ञ अनेक दिनों तक चलते रहते थे और धन भी बहुत खर्च करना पडता था। पुराण काल में काम्य यज्ञ बंद हुए और तपस्या की संकल्पना प्रचलित हुई। पुराणों में जो कथाएं आती हैं, उनमें ऋषियों और राजा लोगों की तपस्याओं का वर्णन मिलता है। इन महापुरुषों का काल सृष्टि आरंभ से महाभारत के अंत तक रहा था। पुराणों में ब्रह्मा विष्णु महेश, इन तीनों की तपस्याओं का वर्णन आता है। तपस्या के फल में सब को वरदान मिलता है। लेकिन तपस्या के बाद दान और ब्राह्मण भोजन का उल्लेख

कहीं पर भी दिखाई नहीं देता। तपस्या का अधिकार सिर्फ ब्राह्मण और क्षत्रीय वर्ग को ही था। आरंभ काल में चारों वर्णों को तपस्या करने का अधिकार था और जिसने तपस्या की उसको ऋषि बना दिया गया। जैसे जाबाल, महिदास इत्यादि। उस काल में विद्याध्ययन आश्रमों में होता था और आश्रम जीवन ही तपस्या मानी जाती थी। रामायण में वैश्य और शूद्रों को तपस्या करने का अधिकार जाता रहा। शंभुक शूद्र ने तपस्या की और राम ने उसका वध किया था। ऐसा वर्णन मिलता है। पुराणों में बौध्द कालीन राजाओं की कथाएं कहीं दिखाई नहीं देती। बौध्दकालीन वणिकों की कथाएं मिलती हैं। पुराणों में भी तपस्या का अधिकार वैश्य और शूद्र को नहीं था। इसलिए वणिकों के लिए व्रतों की संकल्पना प्रचलित हुई थी। व्रत के बाद दान देना और दान भी सभी प्रकार के रहे थे जैसे अन्नदान, गोदान, द्रव्यदान सुवर्णदान इत्यादि।

संत काल में यज्ञ बंद हुए। तपस्या भी बंद हुई। नामस्मरण को महत्त्व दिया गया। नामस्मरण को ही मुक्ति का एक मात्र साधन माना गया। आरंभ काल में यज्ञ बडे कष्टों से संपन्न होते थे। विद्याध्ययन वन में जाकर आश्रमों में करते थे। पुराण वर्णित तपस्याएं और व्रत वनों में किए जाते थे। शायद ग्रामीण जीवन और वन जीवन में ज्यादा फरक नहीं था। संत काल में सारे धार्मिक कार्य घरों में ही करने का प्रचलन पडा। सारे कष्ट जाते रहे। व्रत के बाद देवता पूजा अर्चना और यथेष्ट मिष्टान्न भोजन ब्राह्मणों को और आपने परिवार के साथ स्वतः को भी। ऐसा नियम बना। व्रतों का उदात्तीकरण कर उनका महत्त्व विषद करने के लिए संस्कृत और स्थानीय भाषाओं में अनेक ग्रंथ लिखे गए। उनमें पुराणों के विस्तार पूर्वक प्रमाण दिए गए। किस व्रत से कोनसा स्वर्ग मिलता है और किस व्रत से मुक्ति और मोक्ष मिलता है। इनके अतिशयोक्ति पूर्ण वर्णन किए गए। इस प्रकार व्रत, उद्यापन, अनुष्ठान इत्यादि विधियों का साम्राज्य पूरे देश में और सारे भारतीय समाज पर गत हजार

बारह सौ वर्षों तक छाया रहा। व्रतों के लिए देवता और देवताओं के लिए छोटे बडे और विशालकाय कलायुक्त विपुल प्रमाण पर मंदिर निर्माण हुए। संतों ने व्रतों की निन्दा की। व्रतों को नेष्ठ ठहराया। समाज को फटकारा। संत कहते हैं कि अगर व्रतों से ही पुत्र प्राप्ति हो सकती है तो स्त्री को पति करने की क्या आवश्यता है। इस प्रकार संतोंने समाज को इन व्रतों के मायाजाल से परावृत्त करने का प्रयत्न किया। लेकिन समाज ने संतों का कुछ नहीं सुना और व्रतों में डूब रहा। आज भी आधुनिक शिक्षा का प्रभाव होने पर भी समाज में व्रतों का साम्राज्य छाया हुआ है।

पुराणों में वर्णित व्यासजी की विचारधारा, दर्शन, तत्त्वज्ञान इत्यादि संतों के विचारों पर छाये रहे। सारे संत महात्मा भक्त गण व्यासजी को ही सर्व श्रेष्ठ मानते थे। संतों की भी मान्यताएं व्यासजी के समान रही थी। देह गेह का भेद मिटाना । संसार यह माया है, मिथ्या है और नश्वर है। माता, पिता, भाई, बहन, स्त्री इत्यादि अपने अपने स्वार्थवश व्यक्ति से चिटके हुए हैं। ये उपाधियां जीव की अविद्या है। मानव को इस मोह बंधन में ज्यादा रत नहीं रहना चाहिए। व्यासजी जैसे संतों के साहित्य में भी राष्ट्र, देश, परिवार इत्यादि के प्रति व्यक्ति के कर्तव्यों का उल्लेख कहीं पर भी दिखाई नहीं देता। यह सब मायाजाल है। इन उपाधियों को त्याग कर मानव को परमात्मा में मन लगाना चाहिए, परमात्मा की आराधना करना चाहिए। निरंतर परमात्मा का नामस्मरण करना चाहिए। इत्यादि इत्यादि। व्यासजी कहते हैं कि वेदों का सार हमने पुराणों में लिख दिया है। संत व्यासजी से ही आगे जाते हैं। संत कहते हैं कि वेदों का अर्थ हमको मालुम है। ये संस्कृत पंडित वेद ग्रंथों को सिर पर लिए फिरते हैं। पंडित तो सिर्फ भारवाहक हैं। उन्हें वेदों का अर्थ क्या मालुम। आश्चर्य तो यह कि किस संत ने संस्कृत सीखी थी और वेद मंत्र देखे थे। संतों के पास ज्ञान का कोई महत्त्व नही था।

संत वचन | अब संतों के कुछ वचन देखेंगे।

सब छोड के धंधा, तेरा ही गुणगान करूं ॥
तुझको पराई क्या पडी अपनी नीबेड तू ॥

कबीर कहते हैं -

धोला कागद काली शाई लिखत पढत वांको पढवा दे।
तू तो राम सुमर जग लरवा दे ॥

पंडितराज वामन का मराठी भाषा में श्लोक :

दिधले दुःख पराने उसणे फेडू नयेच सोसावे ।
शिक्षा दैव तयाला म्हणूनी उगीच बैसावे ॥

किसीने तुमको दुःख पहुंचाया है तो उसका बदला मत चुकावो बल्कि उसको सहन करो। ईश्वर उसको सजा देगा । इसलिए तुम चुप बैठो।

संत तुकाराम का मराठी भाषा में अभंग।

ठेविले अनंते तैसेचि रहावे।
चित्ती असू द्यावे समाधान॥

परमात्मा जैसा रखा है वैसे ही रहो और उस स्थिती में रहने का समाधान चित्त में या मन में रहने दो।

भागवत पुराण स्पष्ट कहता है कि जिह्वा के अग्र पर हरि नाम के दो अक्षर या एक शब्द होना चाहिए जिससे चारों वेदों का ज्ञान मिल जाएगा, अश्वमेध यज्ञादि का फल मिल जाएगा, शत्रुओं का विनाश होगा, त्रिलोकी का राज्य मिल जाएगा, मोक्ष और मुक्ति मिल जाएगी।

इस प्रकार के वचन सभी संतों के साहित्य में अति विपुल प्रमाण पर मिलते हैं। संत कहते हैं कि गीता के हम अनन्य अनुयायी हैं और वेदोंका संपूर्ण ज्ञान हमें हैं।

कबीर कहता है। लिखत पढत वा को पढवा दे। गीता कहती है 'न हि ज्ञानेन संदृशं'। ज्ञान से बढ कर संसार में कुछ नहीं है। वामन कहता है कि दूसरों ने दुःख दिया है तो चुप बैठ जावो। वेद कहते हैं। 'योऽ स्मान् द्वेष्टि'। जो हमसे द्वेष करेगा उसे हम नष्ट करेंगे। तुकाराम कहता है जैसा रखा है वैसे ही रहो। कठोपनिषद कहता है। 'उत्तिष्ठत जाग्रत'। उठो, जागो और कर्म करो। इस प्रकार व्यासजी ने और उनके उत्तराधिकारी समस्त संतों ने भारतीय सभाज को अकर्मण्य बना दिया। समाज को निरक्षर और ज्ञानहीन बना दिया। दूसरों के प्रति संवेदनाहीन बना दिया। जन मानस से राष्ट्र और देश की संज्ञा मिटा दी। अंतिमतः समाज को मुसलमानों का गुलाम बना दिया। व्यक्ति को आत्मकेंद्रित होने से असंख्य जातियां बनी। जातियों के नियम कठोर बने। अछूतों की संज्ञा निर्माण हुई। व्रतों के कारण समाज सुखासीन हुआ। आलसी बना। व्यक्ति और समाज अपने नागरिक कर्तव्यों से च्युत हुआ।

इतिहास बताता है कि ग्रीक सम्राट सिकंदर पंजाब में झेलम नदी तक आया था और झेलम से सिंध प्रदेश तक भूभाग अपने अधिकार में लिया। इस भूभाग से हजार मील दूर बिहार प्रांत में रहनेवाला चाणक्य व्यथित हुआ कि मेरे मातृभूमि पर विदेशियों का अधिकार हुआ। उसने प्रयत्न किया और जनता ने और छोटे बडे अधिपतियों ने साथ दिया। सब ने मिलकर ग्रीकों को देश के बाहर खदेड दिया। उस काल मातृभूमि की सीमाएं खैबर घाटी तक रही थी। राष्ट्र की संकल्पना समाज में बहुत ही प्रबल थी। राष्ट्र के प्रति आत्म समर्पण करने के कर्तव्य अति प्रबल रहे थे। सामाजिक सभी कार्य इन संकल्पनाओं के अधीन ही हुआ करते थे। बाद में शक आये। वायव्य प्रांत से हजार मील दूर गोदावरी तटाक पर पैठण में सातवाहनों का अधिराज्य था। सातवाहन सम्राट शालीवाहन ने शकों को मार भगाया। राष्ट्र की संकल्पना राष्ट्रकूटों तक अति प्रबल रही

थी। जिस से कोई भी विदेशी यहां पर नहीं टिक सका। इसके बाद व्यासजी निर्मित पुराणों की विचारधारा और कर्मकांड संपूर्ण समाज पर छा गए और संपूर्ण समाज भी इन कर्मकाडों में आकंठ डूब गया। संतों ने भी यही परंपरा अपनाई, चलाई और निभाई। समाज में राष्ट्र की संकल्पना संपूर्णतः मिट गई।

संवेदनाहीनता। इसके बाद मुसलमान आए। मुसलमानों का सामूहिक रूप से प्रतिकार हुआ, ऐसा इतिहास में कहीं पर भी दिखाई नहीं देता। उस काल किसी भी क्षेत्र में शायद कोई चाणक्य खडा हुआ और सामूहिक रूप से मुसलमानों के प्रतिकार की बात कही होगी। उसके पडोसी ने कहा कि अरे मूर्ख चुप बैठ। तुझको पराई क्या पडी। तू अपनी देख। दूसरे ने कहा अभी तो वे बहुत दूर हैं। हमें उनसे क्या लेना देना। एक ने कहा शत्रु ने हमें नष्ट किया है तो उसका बदला नहीं चुकाना चाहिए। ईश्वर उनको दंड देगा। किसी ने कहा अखंड हरिनामस्मरण किया जाए। शत्रु नष्ट हो जाएगा। एक ने कहा व्रत अनुष्ठान करो। शत्रु भाग जाएगा। हमारे संतों को ऐसे सांसारिक कार्यों से लेना देना क्या था। सारे संत अपने अपने हरि नाम में मग्न थे। उनके लिए ये सारे प्रसंग माया हैं। संतों ने तो मित्र पक्ष और शत्रु पक्ष में भगवान का ही स्वरूप देखा है। इन महापुरुषों ने भारतीय समाज की मानसिकता ऐसी बना दी थी। पृथ्वीराज मारा गया। तब लोगों ने कहा अच्छा हुआ क्योंकि उसने जयचंद की बेटी का अपहरण किया था। जयचंद मारा गया। तब लोगों ने कहा अच्छा हुआ। उसने पृथ्वीराज को मरवाया था। इस प्रकार एक के बाद दूसरा हिंदू राजा मारा गया और मुसलमानों का राज्य बढता गया। लोगों ने कहा यह तो काल की महीमा है। मानव उसमें क्या कर सकता है। कुछ भी नहीं। एक दिन ये भी चले जाएंगे। लेकिन यह दिन सात सौ वर्षों तक नहीं आया। भारतीय समाज को

मुसलमानों की गुलामी में वैसे ही तडपते रहना पडा।

एक प्रसिध्द प्रसंग ऐसा है। महाराणा प्रताप। मुघलों के साथ युध्द के पहले जयपुर के राजा मानसिंग राणा प्रताप को समझाने जाते हैं। राणाजी मान जाइए और अकबर की सिर्फ नाममात्र आधिनता स्वीकार कर लीजिए। हम प्रयत्न कर आपका लगान माफ करा देंगे। आप निर्वेध रूप से प्रजा की सेवा कीजिए। प्रजा की सेवा, दान, धर्म कर पुण्य संचय कीजिए। राणाजी कहते हैं कि संपूर्ण मरुभूमि से इन विदेशियों को निकालना ही मेरा कर्तव्य है और ऐसा करने से ही पुण्य संचय होगा। इसलिए आप मुघलों की गुलामी छोडिए। हम सब मिलकर मुघलों को यहां से मार भगाएं। लेकिन मानसिंग की मानसिकता पर संतों की सीख छाई हुई थी कि भगवान ने जैसे रखा है वैसे ही रहो और उसीमें समाधान मानो। भगवान ने तुम्हे गुलाम बनाया है तो गुलाम बने ही रहो। उसीमें समाधान मानो। स्वतंत्र होने का प्रयत्न मत करो। इस प्रकार के अनेक प्रसंग इतिहास में मिलते हैं। लेकिन व्यासजी और उनके उत्तराधिकारी संतों ने यहांपर किसी काल में और किसी क्षेत्र से किसी चाणक्य को निर्माण नहीं होने दिया।

एक और विचित्र प्रसंग इतिहास में मिलता है। महाराष्ट्र के शिवाजी का इंतजाम करने के लिए औरंगजेब ने अनेक छोटे बडे अधिकारी भेजे थे। लेकिन वे सब हार कर भाग गये। आखिर में औरंगजेब ने जयपुर के राजा सवाई जयसिंग को शिवाजी को पकडने के लिए नियुक्त किया। जयसिंग घबराया। सब जैसी मेरी भी हार हो जाए तो सारी प्रतिष्ठा, इज्ज़त धूल में मिल जाएगी। उसने जयपुर जाकर शत चंडी, लक्ष चंडी और कोटि चंडी का अनुष्ठान और यज्ञ किया। चंडी माता के सामने बिकट प्रश्न खडा हुआ। इस देशद्रोही लेकिन तथा कथित भक्त का काम कैसे किया जाए। जयसिंग बहुत बडी फौज लेकर दक्षिण में आया। उसने शिवाजी से युध्द तो नहीं किया। लेकिन

शिवाजी को समझा बुझाकर औरंगजेब के चंगुल में आगरे को भेज दिया। चंडी माता ने शिवाजी की आगरे में हर प्रकार से रक्षा की और उसको आगरे से सुखरूप निकाल दिया। उधर चंडी माता ने देशद्रोही जयसिंग को कठोर दंड दिया और आदिलशाह के साथ युध्द में उसका मरवा डाला।

ऐसे अनेक प्रसंग राजा महाराजाओं के रहे थे। वैसे ही जन सामान्य के भी रहे थे। किसी गाव में एक दो मुसलमान आते थे। किसी के घर में घुसना, लूटना, स्त्रियों पर बलात्कार करना और चले जाना। ऐसी घटनाएं हर काल में हर क्षेत्र में निरंतर होती रहती थी। कोई प्रतिकार नहीं। कोई प्रयत्न नहीं। कोई विचार मंथन नहीं। एक कहता था कि दुष्ट ने दुख दिया है उसका बदला नहीं चुकाना चाहिए। भगवान उसको दंड देगा इसालिए हम शांत रहें। दूसरा कहता था कि स्त्री ने कभी पाप किया है। इसलिए उसको दंड मिला है। मुसलमान ने बलात्कार कर पाप किया है, तो उसको भी भगवान दंड अवश्य देगा। इत्यादि। समाज की मानसिकता इसी प्रकार से बन गई थी। आज एक बहुत ही लंबा समय बीत चुका। भारत स्वतंत्र हुआ। समाज शिक्षित और संपन्न बना। फिर भी यही मानसिकता समाज में कार्यरत है। अभी भी इस मानसिकता से समाज मुक्त नहीं हो सका है।

कुछ दिन पहले पेपर में एक खबर आई है। एक महानगर, एक तरुणी और तरुण, दोनों में प्रेम विफल हुआ। बाजार में सडक पर तरुण ने तरुणी पर पेट्रोल डाल कर जला दिया। सैकडों दर्शक देख रहे थे। कोई तरुणी को बचाने नहीं आया। तरुणी जलकर नीचे गीरी। चार लोग सामने आये और तरुणी को उठाकर दवाखाना ले गये। वहां पर तरुणी मर गई। दूसरे दिन सभी पेपरवालों ने दर्शकों को खूब ही भला बुरा कहा। शब्दकोष में दूषणात्मक जितनी गालियां लिखी हुई हैं उनसे भी कई गुना ज्यादा पेपरवालों ने गालियां समाज को दी। समाज षंढ हो गया

है, संवेदनाहीन हो गया है। उनमें से एक ने भी तरुणी को क्यो नहीं बचाया? इत्यादि! पुरानी मानसिकता अभी भी समाज पर छाई हुई है। एक ने सोचा कि मुझे पराई क्या पडी। दूसरे ने कहा ताली एक हाथ से नहीं बजती। इसमें तरुणी का ही कुछ दोष है। एक ने कहा कि यह दोनों का निजी मामला है। हम उसमें क्यों पडें। एक कहता है कि तरुणी ने पूर्व जन्म में कुछ पाप किए हैं। उसका भोग उसे पूर्ण रूप से भोगने दो यानि भोग भोगते हुए मरती है तो मरने दो। उसके भोग का अल्पांश भी बाकी न रहे जिसे अगले जन्म में उसे भोगना पडे। तरुण ने पाप किया है तो भगवान और सरकार उसे दंड देंगे। हम उसके बीच में क्यों पडें। इत्यादि। परिणाम यह हुआ कि सैकडों दर्शकों के सामने तरुणी जल गई। लेकिन कोई भी उसे बचाने आगे नहीं आया। समाज में ऐसी अनेक घटनाएं निरंतर होती हैं। तरुणियां मरती हैं। समाज उनको संवेदनाहीन दृष्टि से देखता है। लेकिन प्रतिकारात्मक कोई भी कार्य नहीं करता।

सच तो यह है कि इन विनाशकारी सामाजिक घटानाओं का दोष समाज और दर्शक व्यक्तियों को किसी भी प्रकार से नहीं दिया जा सकता। गत हजार बारह सौ वर्षो से समाज को यही उपदेश दिया गया है। व्यासजी ने ऐसा ही साहित्य लिख छोडा है। संतों के साहित्य में राष्ट्र सेवा और देश सेवा का कहीं पर भी उल्लेख नहीं मिलता। वैसे ही 'शठं प्रति शाठ्यम्' और अत्याचार का प्रतिकार होना चाहिए ऐसे नीति वचन भी संतों ने अपने साहित्य में कहीं पर भी नहीं लिखे और न उन्होंने इन नीति वचनों का उपदेश समाज को दिया है। व्यासजी और संतों के उपदेश समाज के स्मृति कोषों में अंकित किए हुए हैं और समाज उसी प्रकार से आचरण करता है। इन सारी घटनाओं का दोष और पातक व्यासजी और संतों को है और वे ही इन दोषों के उत्तरदाई होते हैं। व्यासजी को यदि मोक्षपद प्राप्त हो गया है तो अब उनका कुछ नहीं किया

जा सकता। लेकिन यदि वे स्वर्ग का आनंद भोग रहे हैं। तो 'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशंति (गीता ९-२१)' के अनुसार कभी तो उनको स्वर्ग का आनंद भोगकर पृथ्वीपर पुनरपि आना होगा और यहां आकर इन अपराधों का और पातकों का भोग भोगना पडेगा।

<u>अकर्मण्यता</u> | कुछ संतों के अनुयायी और भक्त गण यह कहते हैं कि हमारे संत कर्म का उपदेश करते हैं। यह सच है कि भगवद् गीता का विवेचन या निरूपण करते समय सभी संतों को कर्म को प्रधानता देनी पडती है और कर्म का उपदेश भी करना पडता है। अन्य प्रसंगों पर किसी भी संत ने कर्म का विवेचन नहीं किया है। उनके पास तो सिर्फ नामस्मरण रहता है और वे उसका ही उपदेश देते हैं। पुराणों में अनेक कथाएं आती हैं। सुदामा की कथा, ध्रुव की तपस्या, सावित्री सत्यवान इत्यादि। संतों ने इन कथाओं का बहुत ही सुंदर, रसपुर्ण, श्रध्दायुक्त और भक्ति भाव में संपूर्णतः मग्न होकर विवेचन किया है। संतों ने जनता को यही उपदेश दिया है कि सुदामा, ध्रुव इत्यादि भक्तों ने श्रीहरि की अनन्य भाव से उपासना की है जिससे उनको अनायास ही वरदान मिलकर मनोवांच्छित फ़ल प्राप्त हुआ। जनता को वैसे ही उपासना करनी चाहिए जिससे उनको ही सांसारिक ऐश्वर्य मिल सके। संतों को यदि कर्म का महत्त्व समझाना होता तो वे कहते कि सुदामा ध्रुव इत्यादि तो असाधाराण भक्त थे। इसलिए उनको अनायास ही वरदान मिल गया। लेकिन हम सांसारिक मानव हैं। हमें तो इन उपासनाओं के साथ कर्म भी करना चाहिए। जभी वरदान मिलेगा। अन्यथा नहीं। संतों ने कर्म को कभी महत्त्व नहीं दिया और जनता को कर्म का उपदेश भी नहीं किया। उनका तो यही उपदेश रहा है कि जिह्वा पर श्रीहरि के दो अक्षर निरंतर रखो जिससे सबको सारे सांसारिक ऐश्वर्य मिल जाएंगे।

भारतीय समाज का एक अनोखा, आश्चर्ययुक्त और अनाकलनीय विरोधाभास देखने मिलता है। कहा जाता है कि संत काल में भारतीय समाज में जाति व्यवस्था बहुत ही कठोर और तीक्ष्ण बन गई थी। छुआ छात का अति प्राबल्य हो गया था। सभी संत और आचार्य यह मानते हैं कि मनुष्य ईश्वर की संतान है। इसलिए सारे मानव समान हैं। उनमें किसी भी प्रकार का भेद नहीं है। मानव का बाह्य शरीर पंचमहाभूतों से निर्माण हुआ है जो सब के लिए समान है। मानव का आंतरिक शरीर आत्मा से संबंधित है। आत्मा सर्व व्यापक शुध्द चैतन्य है। इसलिए बाह्य और आंतरिक शरीर में कोइ भेद नहीं है। हरि नाम का अधिकार सब को है यानि शूद्र, शूद्रातिशूद्र और चांडाळ को भी है और वे भी मोक्ष के अधिकारी हैं। इत्यादि इत्यादि। सभी जातियों से और चारों वर्णो से संत निर्माण हुए और समाज ने उनमें किसी भी प्रकार का भेद न कर सभी संतों को पूजनीय माना। शूद्रातिशूद्र जाति के संतों का समाज ने बहूमान किया और अनेक सवर्ण उनके शिष्य बने। रामानुजाचार्य के गुरु शूद्र थे। वैसे ही आदि शंकर ने भी एक शूद्र संत को गुरु स्थान दिया है। इतना होने पर भी अनेक जातियां निर्माण हुई। आपस में रोटी बेटी व्यवहार बंद हुआ। छुआछात के नियम अत्यंत कठोर बने।

इतिहास बताता है कि पुराण रचना काल में यानि दसवें शतक के अखिर तक भारतीय समाज मुक्त था। चारों वर्णो में रोटी बेटी व्यवहार मुक्त रीति से होता था। कर्म से वर्ण भी बदला जाता था। कर्म से ब्राह्मण क्षत्रिय होते थे और वैश्य भी ब्राह्मण बन जाते थे। आठवें शतक - मेवाड, राजस्थान - बप्पा रावल ब्राह्मण का बेटा था (आटपुरा शिलालेख)। उसने अरबों का पराभव कर उनको राजस्थान से खदेड दिया। समाज ने उसको चित्तोड की गद्दी पर बिठा दिया। क्षत्रिय राजाओं ने अपनी बेटियां बप्पा रावल को विवाह में दी। इस प्रकार बप्पा रावल शुध्द क्षत्रिय गुहिलोत वंशियों का संस्थापक बन गया। वैसे ही

सातवें शतक में दक्षिण से कुछ चालुक्य वंशीय राजकुमार हरियाना में आकर बस गये। बाद में उनके वंशज अग्रवाल कहलाए। अग्रवाल शुध्द वैश्य माने जाते हैं। इस प्रकार समाज में अभिसरण की प्रक्रिया निरंतर चलती रही थी। कोई भी व्यक्ति कर्म से अपना जन्म वर्ण बदलकर दूसरा वर्ण स्वीकार कर सकता था। दो वर्णों में मिश्र विवाह होते थे और उनसे एक संकर जाति निर्माण होती थी। दो संकर जातियों के मिश्र विवाह से एक उपसंकर जाति निर्माण हो जाती थी। शूद्र वर्ण के साथ त्रैवर्णिकों का रोटी बेटी व्यवहार निषिध्द नहीं माना जाता था। वर्णों की व्याख्या भी बदल गई थी।

गीता में चारों वर्णों के स्वाभाविक कर्म बताये गए हैं। वैश्य वर्ण के कर्म कृषि, गोरक्षा और वाणिज्य माने जाते हैं। कृषि यानि खेती करनेवाला किसान और किसान किसी भी काल में वैश्य नहीं कहलाया। वैश्य वर्ण के लोगों ने कभी भी खेतों में हल नहीं चलाया। किसानों की गणना या तो शूद्रों में हुई या क्षत्रियों में। वैसे ही गोरक्षा यानि ग्वाला। ग्वाला कभी वैश्य नहीं बना। ग्वाला या तो अहीर यानि शूद्र बना या यादव यानि क्षत्रिय कहलाया। वाणिज्य, व्यापार और व्यवसाय करनेवाला समाज ही वैश्य माना गया। लेकिन कारीगिरी व्यवसाय करनेवाले लोग वैश्य नहीं माने गये बल्कि शूद्र कहलाये। जैसे लुहार, लोहकी वस्तुएं बनाकर बेचने का व्यवसाय करनेवाला कभी भी वैश्य नहीं कहलाया। वे शूद्र ही रहे। शूद्र के कर्म परिचर्या और सेवा मानी जाती है। लेकिन अनेक ब्राह्मण सरकारी नौकरियां करते आये हैं। उनको कोई शूद्र नहीं कहता। समाज में ऐसी विसंगतियां परंपरा से चली आ रही हैं।

इस विवेचन से स्पष्ट होता है की भारतीय समाज ने गीता आदि और मनु आदि स्मृति ग्रंथों में वर्णित नियमों का कभी भी संपूर्णतः स्वीकार नहीं किया था और उनका पालन भी नहीं किया था। भारतीय समाज इन ग्रंथों के बंधनों से सर्वथा ही मुक्त रहा था। भारत का क्षेत्र

अति विशाल है और कालमानानुसार यहां पर जनसंख्या भी जादा रही है। इस लिए हर प्रांत में भौगोलिक परिस्थिति के अनुसार सामाजिक नियम बने और प्रचलित हुए। कभी एक प्रांत में प्रचालित नियम दूसरे प्रांत में निषिध्द माना गया। ऐसा क्रम यहां पर अनादिकाल से चला आ रहा है। परिणामतः समाज में अनेक प्रकार की और विपुल प्रमाण पर विसंगतियां निर्माण हुई। इसलिए भारतीय समाज का समग्र रूप से एक संघ अध्ययन करना अति दुष्कर बन गया है।

हमने देखा है की भारत के अधिकांश भाग में दसवें शतक तक समाज मुक्त था। उसके बाद समाज कठोर बनना आरंभा हुआ। इसके अनेक कारण रहे हैं। लेकिन आधुनिक समाजशास्त्र के विव्दान इसका दोष संतों को देते हैं। संतों ने सामाजिक भेदभाव संबंधित उपदेश कभी नहीं दिया। उनका तो यही उपदेश रहा था कि मानव मात्र श्रीहरि की संतान है और सब समान है। फिर भी समाज में अनेक जातियों का निर्माण हुआ। जातियों के नियमों में कठोरता आई। आपस में रोटी बेटी का व्यवहार बंद हुआ। एक दूसरे को छूने में या स्पर्ष करने में भी हिचकिचाहट निर्माण हुई। दलितों को अमानवीय व्यवहार मिला। दलित जातियों में भी आपस में बेटी व्यवहार बंद हुआ। शाखा भेद के अनुसार ब्राह्मणों में भी आपस में रोटी बेटी व्यवहार बंद हुआ। सभी वर्णों में और सभी जातियों में प्रांत निहाय भेद निर्माण हो गये थे और आपस में सभी सामाजिक व्यवहार बंद हो गये थे। उत्तर भारत के ऋग्वेदी ब्राह्मण का दक्षिण भारत के ऋग्वेदी ब्राह्मण के साथ व्यवहार नहीं होता था। एक दूसरे के घर का पानी भी नहीं पीते थे। यहां तक कि भोजन बनाने के लिए सवर्ण जाति के लोग शूद्रों के घर से अग्नि भी नहीं लेते थे। सभी जातियों के मंदिर भी अलग अलग होते थे। छुआ छात अति प्रमाण पर रहता था। हर जाति में और हर घर में छुआ छात के नियमों का कठोरता से पालन होता था। हर घर में हर गृहणी अपने घर के सदस्यों

को स्नान करने से पहले पीने के पानी को छूने नहीं देती थी। इस प्रकार से सारे समाज में अनेक अनाकालनीय कुरीतियों का और अमानवीय व्यवहारों का कठोरता से पालन किया जाता था।

ऐसा क्यों हुआ? इसके अनेक कारण रहे हैं। इस प्रश्न को समझने के लिए अनेक विद्वानों ने विपुल मात्रा में लिखा है। लेकिन इस प्रश्नका पूर्ण रूप से आकलन अभी भी नहीं हो सका। इसका सारा दोष व्यासजी को नहीं दिया जा सकता और न संतों को। अगर व्यासजी के शब्दों में कहे तो 'यह काल की महिमा है इसको मानव क्या समझायेगा।' और वास्तविक ऐसा ही हुआ है। यह काल ही ऐसा रहा था। इस काल की सारी घटनाएं अनाकलनीय और आश्चर्यकारक रही थी। यह काल उत्तर गुप्त काल से यानि छटे शतक से मुसलमानों के आगमन ग्यारहवें शतक तक लगभग छह सौ साल तक रहा था। इस काल में अरबों को सिर्फ सिंध प्रांत तक ही सीमित रखा गया और शेष भारत संपूर्णतया विदेशियों के उपसर्ग से मुक्त रहा। चारों ओर आबादी बढी। भारत में, मध्य एशिया, पश्चिम एशिया और युरोप में वैसे ही पूर्व की ओर आग्नेय एशिया में भी आबादी बढी। व्यापार बढा और विपुल संपन्नता आई। उनके साथ कुछ दुर्गुण भी आये।

इस काल में पुराणों की रचना हुई। महाभारत के बाद व्यासजी लुप्त हो गये थे सो फिर इस कल में उनका उदय हुआ। व्यासजी का पीठ निर्माण हुआ। भागवत पुराण रचना के बाद व्यासजी के पीठ का ज्यादा महत्त्व दिखाई नहीं देता। शायद बाद में लुप्त हो गया। इस काल में संस्कृत और स्थानीय भाषाओं में विपुल साहित्य निर्माण हुआ। लेकिन इन ग्रंथों में राष्ट्र संबंधी किसी भी प्रकार की संकल्पना समाज में नहीं रही। व्यासजी द्वारा निर्मित पुराण, भागवत और अन्य साहित्य में जो विचारधारा, दर्शन और अध्यात्म संबंधित विवेचन किया गया है। ये सर्वथा वेद, उपनिषद और गीता के विरुध्द हैं ऐसा हमने पीछे देखा है।

काल की महीमा | इस काल में यानि आठवें शतक के आरंभ में एक महान विभूति आदि शंकर का उदय हुआ। इन्होंने प्रस्थान त्रयी पर बहुत ही विद्वत्तापूर्ण भाष्य लिखे और अपना अद्वैतमत और मायावाद प्रस्थापित किया। प्रस्थान त्रयी में उपनिषद, ब्रह्मसूत्र और भगवद्गीता का समावेश होता है। इनके सिध्दांतों में संन्यासमत को अति महत्त्व रहा था। इन्होंने अपना अद्वैतमत प्रस्थापित करने के लिए सारे देश में दिग्विजय यात्रा की थी। जिसमें अनेक मान्यवर विद्वानों के साथ शास्त्रार्थ हुआ। सारे पराजित हुए और संन्यासी बनकर इनके शिष्य बने। इन्होंने देश के चारों दिशाओं में यानि उत्तर में बदरीकाश्रम, पूर्व में पुरी, पश्चिम में द्वारका और दक्षिण में कांची कामकाटी स्थानों में पीठ निर्माण किये। इन पीठों के सारे अधिपति शंकराचार्य कहलाये। आज गत चौदह सौ वर्षों से ये चारों पीठ उत्तम प्रकार से कार्यक्षम और कार्यान्वित रहे हैं। इन पीठों के अनेक आचार्यों ने दर्शन संबंधित संस्कृत में अनेक ग्रंथ लिखे। शांकरपीठों की परंपरा इस काल की देन है जो पहले दिखाई नहीं देती। इस प्रकार से इस काल का अनोखापन स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। कैसे?। इस प्रकार।

उपनिषद काल से इस काल तक दर्शन शास्त्र के अनेक दिग्गज विद्वान हुए। कपिल, पंतजलि, कणाद, जैमिनि, ईश्वरकृष्ण, नकुलेश इत्यादि। अनेक विद्वानों ने दर्शन शास्त्र पर मौलिक ग्रंथ लिखे। उनमें अपने अपने सिध्दांत लिखे। दूसरे आचार्यों के सिध्दांतों और उपनिषदों के मंत्रोंपर उन्होंने अपने ग्रंथों में साधक बाधक चर्चा की। उन्होंने वैदिक परंपरा, प्रागल्भ्य और विनयशीलता के आधीन रहकर अपने अपने सिध्दांतों पर ग्रंथ लिखे। इनमें से किसीने भी अपना सिध्दांत प्रस्थापित करने के लिए उपनिषद, ब्रह्मसूत्र इत्यादि पर भाष्य नहीं लिखे। आदि शंकर ने प्रस्थान त्रयी पर भाष्य लिखे। प्रस्थान त्रयी यह शब्द पहले कहीं पर भी दिखाई नहीं देता। यह शब्द शायद आदि शंकर ने निर्माण किया

होगा या उनके भाष्यों को देख कर जनता ने निर्माण किया था। शंकर के बाद अन्य भाष्यकारों ने और विद्वानों ने आक्षेप उठाया कि शंकर अपना मत प्रस्थापित करने के लिए प्रस्थान त्रयी ग्रंथों के मंत्रों का तोड मरोड कर अर्थ लिखा है। उपनिषद और गीता ये कर्मप्रधान रहे हैं। लेकिन शंकर ने इनके श्लोकों का तोड मरोड कर अर्थ निकाल कर अपना संन्यासमार्ग सिद्ध किया। ऐसी धृष्टता पूर्व आचार्यों ने कभी नहीं की थी।

उन आचार्योंने अपने सिध्दातों का उपदेश शिष्यों को दिया। शिष्यों ने उनका जनता में प्रचार किया। शिष्यों ने भी उन सिध्दांतोंपर ग्रंथ लिखे। यह परंपरा चलती रही। उस काल देश की आबादी कम रही थी। काल भी हजारों वर्षों का रहा था। इसलिए किसी को किसी भी प्रकार की शीघ्रता नहीं थी। सिध्दांतों का प्रचार और प्रसार अत्यंत मंद गति से चलता रहता था। समाज का पर्यावरणा वेदमय होने के कारण शालीनता और विनयशीलता का प्रभाव सर्वत्र रहता था। उनका उल्लंघन शायद ही कोई करता था। इस में सिर्फ एक अपवाद दिखाई देता है। याज्ञवल्क्य का। याज्ञवल्क्य ने एक सभा में अति गर्व और तामसी स्वभाव का परिचय दिया था। ऐसा बृहदारण्यक उपनिषद (३-९-२६) में देखने मिलता है। पूर्व काल में इतने घमंडी और तामस स्वभाववाले आचार्य और ऋषि बहुत ही कम दिखाई देते हैं। लेकिन इस काल की महिमा ही अनोखी रही थी। इस काल के आचार्यो में गर्व की मात्रा बहुत ही ज्यादा प्रमाण पर रही थी।

आदि शंकर अपना अद्वैतवाद और संन्यासमार्ग विद्वानों में प्रस्थापित करने भारतवर्ष में दिग्विजय की यात्रा करने निकलते हैं। हमारा अद्वैतवाद सर्वश्रेष्ठ है। यदि किसी विद्वान को इसमें आक्षेप हो तो सामने आए और हमसे शास्त्रार्थ करें। शास्त्रार्थ में हमारी पराजय करे। अन्यथा हमारा सिध्दांत शिरोधार्य करे। इस प्रकार शंकर की गर्वोक्ति रही थी। सच तो यह है कि असली विद्वान बहुत ही विनयशील रहते हैं।

स्वतः को कनिष्ठ समझकर सामनेवाले के वरिष्ठ मानते हैं। शंकर के साथ शास्त्रार्थ में असली विव्दान शायद ही सामने आया होगा। शंकर का शास्त्रार्थ जिन विव्दानों के साथ हुआ था। शायद वे व्दितीय श्रेणी के रहे थे। इन शास्त्रार्थों में शंकर की विजय हुई। कुछ विद्वानों ने अद्वैत सिध्दांत स्वीकार कर संन्यास ग्रहण किया। आम जनता ने इन शास्त्रार्थों में तालियां बजाई और अति श्रध्दापूर्वक शंकर का अभिवादन कर पूजा की।

शंकर की दिग्विजय यात्रा पूरे भारत में हुई। अनेक स्थानों पर और अनेक विद्वानों के साथ शास्त्रार्थ हुए। उसका फलित ऐसा रहा कि सिर्फ सौ पचास विद्वानों ने मायावाद स्वीकार कर संन्यास ग्रहण किया। बाकी जनता पर इन शास्त्रार्थों का कोई प्रभाव नहीं पडा। जनता के लिए विद्वत्ता प्रचुर प्रस्थान त्रयी पर भाष्य, मायावाद, अद्वैत सिध्दांत, संन्यास मार्ग इत्यादि सारे निरर्थक रहे थे। जनता तो व्रतवैकल्य में डूबी रही थी। जनता में से कोई भी संन्यासी नहीं बना। श्री भाग़वत पुराण की रचना आदि शंकर के बाद हुई थी ऐसा माना जाता है। भागवत के विवेचनों में शंकर का मायावाद और संन्यासमार्ग का अति प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखाई दिता है।

शंकर के बाद लगभग तीन सौ वर्षों तक शंकर की रचनाएं और सिध्दांत सुप्त रहे थे ऐसा दिखाई देता है। उसके बाद रामानुज आये। इन्होंने शंकर की रचना देखी। इनको भी ईर्षा हुई। इन्होंने वही सारी प्रक्रिया अपनाई जो शंकर ने की थी। इन्होंने भी प्रस्थान त्रयी पर विद्वत्तापूर्ण भाष्य लिखे। उनमें शंकर की रचनाओं में अगणित त्रुटियां बताकर उनका खंडन किया। इन्होंने अपना विशिष्टाद्वैत सिध्दांत रखा। इन्होंने एक समझदारी की कि शंकर के संन्यासमार्ग को जनता ने स्वीकार नहीं किया। इसलिए इन्होंने अपने सिध्दांत में गृहस्थाश्रम को महत्त्व दिया। इन्होंने भी अपने गर्व का प्रदर्शन कर अनेक विद्वानों के साथ

शास्त्रार्थ किया। इनके बाद मध्व आये। इन्होंने भी वही प्रक्रिया अपनाई जो शंकर और रामानुज ने की थी। इनका सिध्दांत द्वैत रहा है। उस काल दर्शन शास्त्र बहुत सस्ता और सरल हो गया था। इस क्षेत्र में अनेक विद्वानों ने दर्शन शास्त्र पर अगणित ग्रंथों की रचना और अपने अपने सिध्दांत रखे। सब ने पूर्व आचार्यो का यथेच्छ खंडन किया। इन सभी आचार्यो के मठ और अनुयायी सारे देश में रहे हैं।

उस काल इन आचार्यों की कुछ विशेषताएं भी दिखाई देती हैं। ये सारे आचार्य दाक्षिणात्य द्रविड यानि कृष्णा नदी के दक्षिण प्रदेश के रहे थे। इनमें कृष्णा नदी के उत्तर भूभाग का एक भी आचार्य नहीं था। उत्तर भारत के आचार्य दर्शन शास्त्र पर ग्रंथ लिख कर अपनी विद्वत्ता का प्रदर्शन क्यों नहीं कर सके इसका कोई सयुक्तिक कारण दिखाई नहीं देता। ये आचार्य द्रविड़ों के अनुयायी बने और उनके भाष्य ग्रंथोंपर इन्होंने अगणित टीकाएं मात्र लिखी।

इन भाष्यकारों के दर्शन ग्रंथों में कुछ मर्यादाएं दिखाई देती है। बौध्दों का शून्यवाद। उसके आगे शंकर का अद्वैतवाद। आगे विशिष्टाद्वैत, द्वैत, द्वैताद्वैत, शुध्द द्वैत, इत्यादि इत्यादि। इस प्रकार इन आचार्यो के दर्शन सिध्दांत रहे हैं। प्रथम शून्य, अद्वैत यानि एक और द्वैत यानि दो। इन आचार्यो का दर्शन अथवा तत्त्वज्ञान संबंधित दृष्टिकोण और अध्ययन शून्य से दो तक ही मर्यादित रहा था। उसके आगे नहीं। किसीने भी दो यानि द्वैत से आगे बढकर अपने विचार प्रदर्शित नहीं किए। सारे आचार्य द्वैत तक ही अटके रहे। किसी ने भी त्रैतवाद संबंध में कुछ अध्ययन किया है अथवा कुछ विचार प्रदर्शित किए हैं ऐसा कहीं पर भी दिखाई नहीं देता।

एक और विशेषता ऐसी है। शंकर का ब्रह्मसूत्र पर भाष्य, शारीरिक मीमांसा एक अप्रतीम ग्रंथ रहा है। इस ग्रंथ पर वाचस्पति ने भामति नामक टीका लिखी है। भामति पर आगे एक ने टीका लिखी है।

दूसरे ने उस टीका पर टीका लिखी है। तीसरे ने दूसरे की टीका का खंडन लिखा है। आगे एक ने उस खंडन का खंडन कर टीका का मंडन लिखा है। इस प्रकार टीका पर टीका, खंडन, मंडन और खंडन की मालिका आज तक चलती आ रही है। आज भी इन टीका ग्रंथों पर कुछ लिखकर संस्कृत भाषा के डॉक्टर बनते हैं। सभी भाष्यकारों के रचनाओं पर ऐसी अगणित टीकाएं लिखी गई। इन टीका लेखकों में दाक्षिणात्यों के साथ उत्तर भारतीय विद्वान भी रहे थे। उत्तर भारतीय विद्वानों में मूल भाष्य ग्रंथ लिखने की क्षमता दिखाई नहीं देती। लेकिन दाक्षिणात्यों के भाष्य ग्रंथोंपर टीका लिखने में उत्तर भारतीय विद्वान भी अग्रेसर रहे थे।

इस काल की ऐसी विशेषताएं रही थी। जो पूर्व काल में और आधुनिक काल में भी देखने नहीं मिलती। दर्शन शास्त्र के प्रणेता कपिल, पतंजलि, कणाद, जैमिनि इत्यादि आचार्यो ने अपने अपने ग्रंथ लिखे। इन आचार्यो में से किसी ने भी यह गर्वोक्ति नहीं की कि यह मेरा सिध्दांत है, वाद है, मत है। उनके मौलिक विचारों का मूल्यांकन और नामाकरण जनता ने किया। इनके काल में गीता और ब्रह्मसूत्र ग्रंथ निर्माण नहीं हुए थे। उपनिषद थे। इन्होंने उपनिषदों पर भाष्य नहीं लिखे। अपना मत प्रस्थापित करने दिग्विजय यात्रा नहीं की और किसी से भी शास्त्रार्थ नहीं किया। इनके ग्रंथों पर टीका ग्रंथों का तांता नहीं लगा। यही प्रक्रिया आधुनिक काल में ही दिखाई देती है। उदाहरण, लोकमान्य तिलकजी ने गीता रहस्य ग्रंथ की रचना की। इन्होंने अपने ग्रंथ में यह गर्वोक्ति नहीं की कि यह मेरा सिध्दांत है या मत है। जनता ने यह ठहराया कि गीता रहस्य में कर्मवाद प्रस्थापित किया गया है। तिलकजी ने प्रस्थान त्रयी पर भाष्य नहीं लिखे। अपना मत प्रस्थापित करने के लिए उन्होंने किसी भी प्रकार की दिग्विजय यात्रा नहीं की और न किसी से शास्त्रार्थ किया। आज तक गीता रहस्य ग्रंथ पर किसी भी प्रकार से टीका ग्रंथ नहीं लिखा

गया। जनता इस ग्रंथ को स्वतंत्र रूप से अध्ययन करती है, रस ग्रहण करती है और आक्षेप भी उठाती है।

वेदों का रोष पुराण ग्रंथों में ऐसे श्लोक मिलते हैं।

ऋग्वेदोऽथ यजुर्वेदः सामवेदो ह्यथर्वणः।
अधीतास्तेन येनोक्तं हरिरित्यक्षरद्वयम्॥

जिसने 'हरि' इन दो अक्षरोंका उच्चारण कर लिया, उसने ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद का अध्ययन कर लिया।

अश्वमेधादिभिर्यज्ञैनरमेधैः सदक्षिणैः ।
यजितं तेन येनोक्तं हरिरित्यक्षरद्वयम् ॥

जिसने 'हरि' इन दो अक्षरोंका उच्चारण कर लिया, उसने दक्षिणा के सहित अश्वमेध आदि यज्ञों के द्वारा यजन कर लिया।

इस प्रकार के श्लोकों में व्यासजी ने हरि, नारायण, इत्यादि परमेश्वर वाचक नामों को बहुत ही परम श्रेष्ठ स्थान दिया और भगवान वेद और भगवान यज्ञ नारायण को बहुत ही कनिष्ठ माना। व्यासजी के यज्ञ और वेदों को अपमानित करनेवाले श्लोकों को देखकर भगवान वेद को बहुत ही क्रोध आया। यदि व्यासजी के शब्दों में कहे तो भगवान वेद ने इस प्रकार से उद्‌गार निकाले। भगवान वेद ने व्यासजी को फटकारा। अरे मूर्ख, वेदों का घोर अवमुल्यन कर तू ने हरि और नारायण आदि देवताओं को सर्व श्रेष्ठ माना है। वेद अनादि और अविनाशी हैं जब कि ये देवतागण 'अर्वागदेवा' जैसे वेदों के बाद में निर्माण हुए हैं और सारे देवता विनाशी हैं। तू ने वेदों का घोर अवमान किया है। जनता भी तेरा अवमान करेगी और निराशा में ही तेरा अंत होगा। और वास्तव में हुआ भी वैसा।

व्यासजी का हेतु यह था कि जनता का प्रबोधन हो। इसलिए उन्होंने पुराण, भागवत और अन्य ग्रंथों की विपुल मात्रा में रचना की।

जिससे जनता ज्ञानवान होकर सदाचारी बने, धर्म के नियमानुसार आचरण करे, लोगों का चित्त भगवान में लगे और लोगों के लिए मोक्ष के द्वार खुल जाए। इत्यादि इत्यादि। लेकिन जनता ने व्यासजी का उपदेश स्वीकार किया है ऐसा दिखाई नहीं देता। यह देखकर व्यासजी को घोर निराशा हुई। अंत में उनके ऐसे उद्‌गार निकले। श्लोक ऐसा है।

ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष न च कश्चित् श्रुणोति माम् ।
धर्मादर्थश्च कामश्च सधर्मः किं न सेव्यतै ॥

मैं दोनों हाथ उपर उठाकर पुकार पुकार कर कहता हूं लेकिन मेरी कोई सुनता नहीं। धर्म के नियमानुसार आचरण करने से अर्थ और काम की प्राप्ति होती है फिर भी धर्मानुसार कोई आचरण नहीं करता।

इस प्रकार व्यासजी को घोर निराशा हुई और वे अब अस्त हो गए। उसमें ही उनका अंत हुआ। शायद भगवान वेद के श्राप का यह परिणाम होगा। जनता के प्रबोधन हेतु व्यासजी ने अपने ग्रंथों की रचना की । उस समय उन्होंने कपिल के सिध्दांतों का मननपूर्वक अध्ययन किया है ऐसा कुछ दिखाई नहीं देता। कपिलजी स्पष्ट रूप से कहते हैं कि प्रकृति का स्वभाव त्रिगुणात्मक रहता है और वह भी सम समान होना चाहिए। त्रिगुणात्मक यानि सात्विक, राजस और तामस गुण। ये तीनों गुण सम समान रहना चाहिए। इन तीन गुणों की मात्रा में कुछ कम ज्यादा हो जाए तो निसर्ग का संतुलन स्थिर नहीं रहता, बिगड जाता है। इस का अर्थ ऐसा। समाज में सात्विक, राजस और तामस गुणवाले लोग सम समान रहना चाहिए। समाज में जितने सात्विक गुणवाले लोग हैं उतने ही तामस गुणवाले रहना चाहिए। जभी समाज का संतुलन स्थिर रहेगा। वरना समाज अस्थिर बन कर नष्ट हो सकता है। समाज में जितने सदाचारी लोग हैं। उतने ही दुराचारी लोग रहना चाहिए। लेकिन व्यासजी निकले समाज के सब लोगों को सदाचारी बनाने। यह कैसा संभव है? यह तो निसर्ग के विरुध्द है।

तपस्या व्यासजी कि घोर निराशा होने का कारण इस प्रकार रहा है। किसी काल में और किसी भी समाज में आर्त और अर्थार्थी लोग ही बहुतांश मात्रा में रहते हैं। आर्त यानि रोगी और संसार की अनेक समस्याओं से ग्रस्त दुखी और अर्थार्थी यानि निर्धन और धन की लालसा करनेवाले । पहले ऐसे लोग व्यवहारिक मार्ग से अपने दुःख दूर करने का प्रयत्न करते हैं। इससे कोई लाभ नहीं मिले तो अव्यवहारिक मार्ग का अवलंब किया जाता है। पूर्व काल में अतिसंकट और दुःख निवारणार्थ काम्य यज्ञ आयोजित किए जाते थे। काम्य यज्ञों के लिए मनुष्य बल और धन बल की आवश्यकता रहती थी और समय भी लगता था। इसलिए साधारण जनता के लिए यह मार्ग संभव नहीं था। व्यासजी ने अपने पुराण ग्रंथों में संकट निवारणार्थ अनेक प्रकार की तपस्याओं का नियोजन किया। निर्धन ने तपस्या की। वह धनवान हो गया। किसीने पुत्र के लिए तपस्या की। उसको पुत्र मिल गया। किसीने राज्य के लिए तपस्या की। उसको राज्य मिल गया। इत्यादि इत्यादि। इस प्रकार की अगणित कथाएं व्यासजी ने पुराणों में लिखी हैं।

जनता ने पुराणों का अध्ययन किया। कथा वाचकों ने भी पुराणों की कथाएं जनता में कही और तपस्याओं का प्रचार किया। जनता ने भी अपने अपने संकट निवारणार्थ तपस्याएं की। तपस्याएं वन में जाकर की जाती थी। किसी ने वन में जाकर उपोषण किया और भगवान की आराधना की। किसी ने खडे होकर, किस ने हाथ उपर उठाकर, किसी ने एक पैर पर खडा होकर, किसी ने पानी में खडे होकर, किसी ने सिर्फ पानी पीकर, किसी ने तृणमूल खाकर, किसी ने अग्नि जलाकर, किसी ने बर्फ पर बैठ कर इत्यादि इत्यादि तपस्याएं की। किसी ने ऐसी तपस्या एक सप्ताह की। किसी ने एक महिना, किसी ने एक वर्ष, किसी ने दो, पांच, दस वर्ष, और किसी ने आजीवन तपस्या की। एक प्रकार के तपस्या से कुछ लाभ नहीं हुआ तो दूसरे प्रकार की

तपस्या की। इस प्रकार जनता ने अनेक प्रकार की तपस्याएं की। लेकिन किसी को कुछ तनिक सा भी लाभ नहीं मिला। सिर्फ रोगग्रस्त निरोगी बना। लेकिन निर्धन को धन लाभ नहीं हुआ। राज्यहीन को राज्य नहीं मिला। पुत्रहीन को पुत्र नहीं मिला। किसी का भी संकट और दुःख दूर नहीं हुआ। ऐसी तपस्याओं से शायद दस व्यक्तियों में से योगानुयोग से किसी एक व्यक्ति को कुछ लाभ हुआ होगा। भारत के सभी विभागों में और प्रातों में जनता ने ऐसी तपस्याएं की। लेकिन ऐसी तपस्याओं से किसी को भी लाभ नहीं हुआ। ऐसी तपस्याओं के प्रयोग जनता में सौ पचास वर्ष या इससे भी ज्यादा काल तक चलता रहा था। लाभ किसे भी न हुआ जिससे इन तपस्याओं की निरर्थकता सिध्द हुई। जनता को घोर निराशा हुई। जनता का शारीरिक कष्ट और समय बरबाद हुआ। जनता को बहुत ही क्रोध आया और व्यासजी को फटकारा, गालियां दी, बुरा भला कहा कि पुराणों की कथाएं पुराणों में ही सुंदर दिखाई देती हैं। लेकिन व्यवहार में ये हानिकारक और निरर्थक हैं।

उस काल पुराण ग्रंथों की रचना देखकर ब्राह्मण वर्ग भी बहुत रुष्ट हुआ। पहले यज्ञ होते थे। यज्ञों में ब्राह्मणों को यथेष्ठ दक्षिणा और भोजन मिलता था। पुराणों से यज्ञ बंद हुए और तपस्या आरंभ हुई। तपस्या विधी में तपस्या करनेवाले को भगवान का वरदान मिलता है और वह आनंद से घर जाता है जैसे ध्रुवजी। तपस्या के बाद या भगवान से वरदान मिलने के बाद ब्राह्मणों को दक्षिणा, दान और भोजन देने का उल्लेख व्यासजी ने पुराण ग्रंथों में कहीं पर भी नहीं किया। जनता ने तपस्या के बाद ब्राह्मणों को दक्षिणा और भोजन देना बंद किया। ब्राह्मण वर्ग बहुत ही क्रोधित हुआ। उन्होंने व्यासजी को बहुत ही कोसा कि हम कहां जाएं।

व्रत अनुष्ठान जनता और ब्राह्मण वर्ग क्रोधित हुआ देखकर व्यासजी घबराए कि अब क्या किया जाए लेकिन व्यासजी बहुत ही विद्वान और चतुर थे। उन्होंने आगे के पुराण ग्रंथों में तपस्या की कथाएं लिखना बंद की और उनकी जगह पर व्रत वैकल्य और अनुष्ठानों को महत्त्व देकर कथाएं लिखी। इस विधी में लाभार्थी किसी इष्ट देवता का व्रत और अनुष्ठान करता है। अंत में आराध्य देवता की पूजा होती है, ब्राह्मणों को दान और दक्षिणा दी जाती है और ब्राह्मणों को, अपने परीवार को और खुद को यथेष्ठ मिष्टान्न प्रसाद का भोजन मिलता है। इस विधी से ब्राह्मण वर्ग ही संतुष्ट हुआ और जनता भी आनंदित हुई। क्योंकि तपस्या वन में जाकर की जाती थी और उसमें शारीरिक कष्ट भी बहुत उठाना पडता था। जबकि व्रत वैकल्य घरों में या तीर्थ स्थानों में किए जाते थे। इनमें ज्यादा शारीरिक कष्ट नहीं रहता था। इसलिए व्रत वैकल्य और अनुष्ठानों को जनता ने सहर्ष स्वीकार किया। इससे व्यासजी भी खुष हुए। उन्होंने उत्तर पुराण ग्रंथों में अगणित व्रतों की विस्तारपूर्वक अति लुभावनी और रोचक कथाएं लिखी। व्रतों को बहुत ही महत्त्वपूर्ण बनाकर उनका जनता में प्रचार किया। व्रतों के लिए अनेक देवताओं का नियोजन किया गया। समाज के सभी वर्गों को यानि शूद्रातिशूद्र वर्ग को भी व्रत करने का अधिकार दिया गया। जनता भी व्रत वैकल्य करने में धन्य मानकर मग्न हुई। इससे व्यासजी भी बहुत उत्साहित हुए। उन्होंने वर्ष के ३६५ दिनों में लगभग २००० व्रतों का नियोजन किया और इन व्रतों को जनता के मानस में प्रतिबिंबित करने के लिए अगणित साग्र और विस्तारपूर्वक रंजक कथाओं की रचना की।

जनता ने व्रतों को आनंदित होकर स्वीकार किया। अनेक प्रकार के उद्देशों के लिए जनता ने श्रध्दापूर्वक और संपूर्ण रूप से विधिपूर्वक अनेक व्रत किए। सारे देश में और समाज के सारे वर्गो में अनेक प्रकार के व्रत प्रचलित हुए। लोगों ने श्रध्दापूर्वक और विधिवत

व्रत किए लेकिन इन व्रतों से जनता का तनिक सा भी लाभ नहीं हुआ। व्रतों से निर्धन को धन नहीं मिला। पुत्रहीन को पुत्र नहीं मिला। राज्यहीन को राज्य नहीं मिला। दुखियों का दुख दूर नहीं हुआ। इससे जनता को रोष हुआ और फिर व्यासजी को भला बुरा कहा। व्यासजी भी बहुत दुखित हुए। उन्होंने कुछ काल के लिए ग्रंथ रचना करना स्थगित किया। गतकाल बौध्दों के प्रभाव से काम्य यज्ञ समाज में बंद हो गये थे। बाद में व्यासजी वर्णित तपस्याएं सारहीन होने के कारण समाज ने उनको भी बंद कर दिया था। अब व्रत वैकल्यों से जनता को तनिक सा भी लाभ नहीं हुआ। पर जनता ने व्रत करना बंद नहीं किया।

व्रत और अनुष्ठान सारहीन और लाभप्रद न होने पर भी जनता ने उनको तपस्या जैसे बंद नहीं किया। बल्कि बडे उत्साह से जनता व्रत करने में मग्न रही और उनका प्रमाण भी बढा। इसके अनेक कारण रहे थे। किसी न किसी रूप से व्रतों की संकल्पना सारे मानव समाज में आदिकाल से चली आ रही है। वेदों और उपनिषदों में व्रतों का उल्लेख मिलता है। उस काल व्रतों का स्वरूप बहुत ही भिन्न रहा था। कालिदास के मालविकाग्निमित्रम् काव्य में चांद्र व्रत का वर्णन मिलता है। मानव स्वभाव उत्सवप्रिय रहता है। व्रत करने से घर मे उत्सव जैसा वातावरण बन जाता है। तीर्थ प्रसाद निमित्त परिवार के और अनेक संबंधी लोग घर आते हैं। उनका सामाजिक सहवास मिलकर आनंद होता है। आपसी प्रेम भाव में वृध्दि होती है। इसलिये व्रतों का स्वरूप सिर्फ धार्मिक न रहकर सामाजिक बन गया है। आधुनिक काल में भी अगणित व्रत वैकल्य सारे भारत में और समाज के सारे वर्गों में बडे उत्साह से नियमित रूप से किये जाते हैं। आज भी शिक्षित और अति शिक्षित स्त्री वर्ग इन व्रतों को बडे ही श्रध्दापूर्वक और अति विधिवत करती है।

नामस्मरण। उस काल आदि शंकर आये और उन्होंने मायावाद, अद्वैतवाद और संन्यासमार्ग के सिध्दांत प्रस्थापित किए। भारत के सारे विद्वत्‌जनों पर इन सिध्दांतों का प्रभाव पडा। व्यासजी का अंतिम ग्रंथ भागवत महापुराण समझा जाता है। आदि शंकर के लगभग दो सौ साल बाद भागवत ग्रंथ की रचना हुई ऐसा माना जाता है। भागवत ग्रंथ में शंकर के सिध्दांतों का बहुत ही बडी मात्रा में प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। भागवत ग्रंथ की रचना में व्यासजी ने अपने जीवन की सारी तपश्चर्या अर्पण कर दी और भागवत को भक्तियोग का बहुत ही सुंदर और श्रेष्ठ ग्रंथ बना दिया। वैसे तो भक्तियोग भारत में आदिकाल से चला आ रहा है। सभी प्राच्य ग्रंथों में भक्तियोग का महत्त्व दर्शाया गया है। तीसरे शतक में दक्षिण भारत में वैष्णव भक्त आलवारों की परंपरा आरंभ होती है। इन्होंने भक्तियोग पर सुंदर सुंदर आगम ग्रंथों की रचना की। पुराणों में भक्तियोग की महिमा विस्तृत प्रमाण पर की गई और इनकी अगणित कथाएं लिखी गई। इसमें परमेश्वर पर निरतिशय और निर्हेतुक प्रेम रखकर वृति तदाकार करना यह भक्तिका सामान्य रूप रहता है। लकिन सकाम भक्ति का भी वर्णन विपुल प्रमाण पर मिलता है। भक्तियोग में नामस्मरण को अति महत्त्व दिया गया है।

नामस्मरण में परमेश्वर के किसी भी स्वरूप का नाम लिया जा सकता है। इसमें हरि, नारायण, राधेकृष्ण, राम राम, ॐ नमः शिवाय इत्यादि। सभी नाम समान फलदायी रहते हैं। व्यासजी ने इन पुराणों में अनेक श्लोकों की रचना की जिसमें ऐसा स्पष्ट रूप से आदेश मिलता है कि जिह्वा के अग्र पर हरि या नारायण के शब्द रखनेपर सारे पातक नष्ट हो जाते हैं, मोक्ष मिल जाता है, संसार की सारी सिध्दियां प्राप्त हो जाती है। निरंतर भगवन्नाम के स्मरण या उच्चारण से अर्थ, काम, धर्म और मोक्ष ये चार वर्ग भी साध्य हो सकते हैं। जनता के आर्त और अर्थार्थी वर्ग ने नामस्मरण विधी को शीघ्र ही अपनाया। जनता को

भगवन्नामस्मरण की विधि यज्ञ, तपस्या और व्रत वैकल्य विधियों से बहुत ही सरल प्रतीत हुई। इसमें कोई शारीरिक कष्ट नहीं, घर छोडकर कहीं जाना नहीं, कोई खर्च नहीं, किसी देवता की पूजा नहीं, किसी ब्राह्मण को दान नहीं, कोई समय नहीं और इसकी कोई विधी नहीं। इस प्रकार नामस्मरण बहुत ही सरल रहा है। नामस्मरण के विरुद्ध में ब्राह्मण वर्ग ने भी किसी प्रकार का आक्षेप नहीं उठाया। उनको भी मालूम हुआ कि नामस्मरण करने से अर्थ और काम की प्राप्ति हो जाती है और दक्षिणा के लिए हाथ नहीं फैलाना पडता। समाज के सभी वर्गों को नामस्मरण विधी से संतोष हुआ।

समाज में निर्धन और दुखी वर्ग ने अपने दुख दूर करने के लिए हरिनामस्मरण विधी को अपनाया। हजारों लोग हाथ में तुलसी की माला लेकर भगवन्नामस्मरण करने लगे। उठते, बैठते, दिन, रात, अखंड नामस्मरण किया गया। किसी ने साल भर नामस्मण किया। किसी ने दो साल, किसी ने पांच साल और किसी ने आजीवन नामस्मरण किया। किसी को तनिक सा भी लाभ नहीं हुआ। नामस्मरण का प्रयोग सारे देश में हजारों लोगों ने सौ दो सौ साल निरंतर किया। दस प्रतिशत लोगों को भी किसी प्रकार से लाभ नहीं मिला। जनता को भगवन्नामस्मरण से भी तपस्या और व्रत वैकल्य विधी समान निरर्थक और सारहीन अनुभव मिला। जनता ने फिर व्यासजी को दोष दिया, बुरा भला कहा। इत्यादि। व्यासजी को घोर निराशा हुई। उन्होंने कहा कि जनता को सुखी, सदाचारी और धर्मपरायण बनाने के लिए आजीवन तपश्चर्या कर इतिहास पुराण भागवत आदि अनेक ग्रंथ लिखे। जनता को अर्थ, काम, धर्म और मोक्ष, ये चारों वर्ग साध्य करने अनेक विधियां, तपस्या, व्रत वैकल्य, अनुष्ठान, भगवन्नामस्मरण इत्यादि विधियों का निर्माण किया। लेकिन जनता ने मेरे साहित्य को और विधियों को निरर्थक और सारहीन अनुभव कर ठुकराया। इस प्रकार व्यासजी निराश होकर दोनों हाथ

उपर उठाकर पुकर पुकार कहते हैं की जनता मेरी कुछ भी नहीं सुनती। 'ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष'। भागवत महापुराण रचना के बाद व्यासजी अंतर्धान हो जाते हैं।

कसौटियां उपरोक्त श्लोक से यह स्पष्ट होता है की व्यासजी के कार्यकाल में ही जनता ने व्यासजी के साहित्य, विचारधारा, निर्माण की हुई विधियां इन सबको अस्विकार किया और निरर्थक ठहराया। इस प्रकार की प्रक्रिया भारतीय समाज में पूर्वकाल में कभी हुई है ऐसा कुछ दिखाई नहीं देता। गीताकार श्रीकृष्ण के उपदेशों को यादवों ने नहीं माना। परिणामतः उन्हें आपस में लढकर मरना पडा। लेकिन अन्य जनता ने गीता के उपदेशों को शिरोधार्य माना। यहां पर सारी जनता ने व्यासजी के कार्यकाल में ही उनका तिरस्कार किया और व्यासजी के उपदेशों को नहीं माना। उस काल की ऐसी विशेषता रही है।

उपरोक्त श्लोक से व्यासजी का गुणात्मक अंग कुछ स्पष्ट होता है और उनके समाकालीन भारतीय समाज की गतिविधियों की झलक भी देखने मिलती है। व्यासजी के समाकालीन आचार्यो ने और समाज के शिक्षित वर्ग ने व्यासजी को उच्च कोटि का विद्वान नहीं माना और श्रेष्ठ पद भी नहीं दिया। व्यासजी के सामने उनके साहित्य, सिध्दांत और उपदेशों पर कठोर टीका की गई। उनके उपदेशोंपर और विधियों पर प्रयोग किए गये। ऐसे प्रयोग लाखों लोगों में, समाज के सारे वर्गों में और सारे देश में चार पांच सौ साल तक निरंतर होते रहे। प्रयोगों का अनुभव सारे समाज को मिला। प्रयोगों के अनुभवों को संकलन किया गया। उनका विश्लेषण किया गया, अध्ययन किया गया। प्रयोगों को कसौटी पर कठोर रूप से कसा गया। अंत में जनता ने यह निर्णय दिया कि व्यासजी ने पुराण ग्रंथों में जो कुछ कहा है, लिखा है और उपदेश किया है, ये सारे सारहीन और निरर्थक हैं। किसी सिध्दांत के लिए ऐसी

प्रक्रिया भारतीय समाज में वैदिककाल से चली आ रही है।

वेदों के आरण्यक विभाग में आचार्य आपस में मिलते थे। आरण्य में बैठते थे। आपस में चर्चा करते थे। उन चर्चाओं में से एक नया विचार रूप लेता था। उस नए विचार पर मंथन होता था, आक्षेप लिए जाते थे और कठोर टीका होती थी। नए विचार पर प्रत्यक्ष प्रयोग होते थे। ऐसे प्रयोग सारे देश में और सारे समाज में लंबी कालावधि तक चलते रहते थे। अनुभवों का संकलन, परिक्षण, विश्लेषण और अध्ययन होता था। अंत में निर्णय लिया जाता था। एक नया सिध्दांत बनता था। जिससे उपनिषद की रचना होती थी। हर सिध्दांत को ऐसी प्रक्रियाओं की संपूर्ण रूप से परिक्रमा करनी पडती थी। उपनिषद विचारों के अमरत्व का मर्म यही रहा है। कपिल, पतंजलि, कणाद जैमिनि आदि आचार्यों ने भी अपने दर्शन शास्त्र की रचनाओं में यही प्रणाली अपनायी थी जिससे उनके दर्शन सिध्दांतों को श्रेष्ठता प्राप्त हुई। इस प्रकार उपनिषदों की मर्यादा और गतिशीलता का प्रभाव भारतीय समाज पर सदैव रहा था। ऐसा प्रभाव समाज पर राष्ट्रकूटों के काल तक यानि दसवें शतक के अंत तक रहा था। भारतीय समाज राष्ट्रकूट काल तक बहुत ही गतिशील, कार्यप्रवण और मुक्त रहा था ऐसा हमने पीछे देखा है।

व्यासजी इन कसौटियों पर नहीं उतरे और पूर्ण रूप से असफल रहे। उनके समाकालीन विद्वानों ने व्यासजी को द्वितीय या कनिष्ठ श्रेणी का विद्वान ठहराया। आदिशंकर ने प्रस्थान त्रयी पर सुंदर और विद्वतापूर्ण भाष्य लिखे। अपने सिद्धांतों पर विद्वानों के आक्षेप सुनने और समझने के लिए शंकर ने सारे देश की यात्रा की। विद्वानों के सारे आक्षेप सुनकर उन्होंने अपने युक्तिवाद से सारे आक्षेपों का खंडन कर विद्वानों का पूर्ण रूप से समाधान किया। वैसे विद्वानों के आक्षेपों का समाधान व्यासजी न कर पाए। महाभारत में स्पष्ट रूप से लिखा है कि परिक्षित

ने ऋषि का श्राप मिलने के बाद तक्षक से अपनी रक्षा करने के लिए भरसक कोशिश की। लेकीन वे सफल नहीं रहे और तक्षक ने उन्हें मार डाला। जबकि व्यासजी ने भागवत में परिक्षित को किसी भी प्रकार का प्रयत्न न करा कर स्वखुषी देहत्याग कराने गंगा तट पर बिठा दिया। महाभारत के अनुसार परिक्षित ने श्राप की अवधि यानि सात दिनों तक अपनी रक्षा का प्रयत्न किया। लेकिन व्यासजी ने देह त्याग करने गंगातट पर बैठे हुए परिक्षित को उपदेश देने के लिए अपने बेटे शुकदेवजी को नियुक्त किया और उन उपदेशों से भागवत ग्रंथ की रचना कर डाली। महाभारत में स्पष्ट रूप से वर्णन आता है कि राजसूय यज्ञ की सभा में शिशुपाल ने कटु वचनों से श्रीकृष्ण का घोर अपमान किया। श्रीकृष्ण को क्रोध आया और अपने सुदर्शन चक्र से शिशुपाल का मस्तक काट कर मस्तक को उसके शरीर से पृथक कर दिया। बाद में शिशुपाल का विधिवत अंत्य संस्कार किया गया। भागवत में व्यासजी कहते हैं कि श्रीकृष्ण ने सुदर्शन चक्र शिशुपाल की ओर चलाया और सुदर्शन चक्र के स्पर्श से शिशुपाल सशरीर संपूर्ण रूप से श्रीकृष्ण में समा गया। (भागवत ७-१-१३)। सारे पुराणों में कथाएं ऐसे विकृत रूप से लिखी गई हैं। महाभारत और सारे पुराण ग्रंथ व्यासजी की रचना मानी जाती है। उनके ग्रंथों में इस प्रकार की अगणित विसंगतियां मिलती हैं। इन विकृत कथाओंपर आक्षेप लिया जाए तो व्यासजी के पास कोई सयुक्तिक उत्तर नहीं है।

अपने ग्रंथों की रचना करते समय, व्यासजी ने अनेक निसर्ग नियम और शास्त्र वचनों का महत्त्व नहीं समझा। यदि उनका महत्त्व समझा भी हो तो उन्होंने उनका जानबूझकर दुर्लक्ष किया ऐसा दिखाई देता है। एक शास्त्र वचन ऐसा है।

ना भुंक्ते क्षीयते कर्म जन्म कोटि शतैरपिः॥

अपने कर्मों का फल भोगना ही पडता है। यदि सौ कोटि जन्म बीत जाए तो भी कर्म नष्ट नहीं होते। उनको कभी तो भोगना ही पडता है।

व्यासजी ने अपनी संपूर्ण रचनाओं में कर्मो को कोई महत्त्व नहीं दिया। 'गहना कर्मणो गतिः' (गीता ४.१७)। कर्म की गति समझना बहुत ही गहन और दुश्कर है। 'कर्मन की गति न्यारी। टारे ना टरे।' कर्मों की गति अति विचित्र है, उनको भोगना ही पडता है, किसी भी प्रकार से कर्मों को दूर या नष्ट नहीं किया जा सकता। लेकिन कैसे भी कर्म करो, व्यासजी उन्हें नष्ट कर देते हैं। तपस्या करो, वरदान मिलेगा और आपके कर्म नष्ट हो जाएंगे। व्रत वैकल्य करो। कर्म नष्ट होकर आपको फल मिल जाएगा। नामस्मरण करो। कर्म नष्ट हो जाएंगे और देवदूत आकर मोक्ष ले जाएंगे। इत्यादि।

कर्म फल के लिए भर्तृहरि का एक अति सुंदर उदाहरण है।

सूर्यो भ्रामयति सदैव गगने तस्मै नमः कर्मणे।

सूर्यदेव अपने कर्मफल अनुसार सदैव आकाश में भ्रमण करता है, इसलिए कर्म को नमस्कार है।

सूर्यदेव आज करोडों वर्षों से आकाश में भ्रमण कर रहे हैं और चक्कर लगा रहे हैं। किन कर्मों का फल सूर्यदेव भोग रहे हैं, किसीको भी मालूम नहीं है। भ्रमण करते हुए सूर्यदेव थक गये होंगे। उनको तनिक विश्रांती की अत्यंत अवश्यकता है। इसलिए व्यासजी और उनके सारे देवताओं से प्रार्थना है कि सूर्यदेव कौनसी विधी अपनाए। उनको वरदान देने के लिए कोन देवता, हरि, नारायण, ईश्वर इत्यादि समर्थ हैं जिससे सूर्यदेव को क्षणभर के लिए विश्रांती मिल सके। ऐसे वरदान के लिए व्यासजी के पास कोई विधी नहीं है कोई देवता भी समर्थ नहीं है। निसर्ग की कोई शक्ति सूर्यदेव को विश्रांती नहीं दिला सकती। प्रलय काल में ही सूर्यदेव को विश्रांती मिलेगी।

आधुनिक लोग कहते हैं कि सूर्य स्थिर है पृथ्वी भ्रमण करती है तो यह श्लोक ऐसा होता है। 'पृथ्वी भ्रामयते सदैव गगने' अब पृथ्वीमाता को व्यासजी विश्रांति दिलावे।

आदिशंकर और उनके बाद रामानुज, मध्व आदि आचार्यों ने संस्कृत में अनेक ग्रंथ लिखे। ग्रंथों के विषय जनता को समझाने के लिए अनेक आचार्यों ने उनका विशदीकरण करके टीकाएं लिखी। इन टीकाओं का भी विशदीकरण किया गया और प्रति टीकाएं लिखी गई। इन ग्रंथोंका खंडन किया गया। मंडन किया गया। यह मालिका आज तक चली आ रही है और अगणित ग्रंथ लिखे गये हैं। लेकिन व्यासजी की रचनाओं पर किसी भी प्रकार की टीका नहीं लिखी गई। न खंडनात्मक टीका और न विशदीकरण टीका। इससे स्पष्ट होता है कि उनके समाकालीन विद्वानों ने व्यासजी के समग्र रचनाओं को कोई महत्त्व नहीं दिया। उन रचनाओं को टीका योग्य नहीं माना। उनको कनिष्ठ ठहराया। व्यासजी के विचारधारा को समाज में कोई स्थान नहीं मिला। उनका अवमूल्यन किया गया। जनता में अपने प्रति ऐसा अवमानित वातावरण देखकर व्यासजी बहुत व्यथित और हताश हुए। अंत में उनको हाथ उपर उठाकर पुकार पुकार 'ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष' यह श्लोक कहना पडा।

मंदिर पूजा। अब व्यासजी अंतर्धान होते हैं और इनके बाद उनके उत्तराधिकारी संत महात्मा आते हैं। जनता के प्रबोधन में व्यासजी असफल होकर हताश हुए। यह देखकर संत लोग सजग हुए और वे समाज के झमेले में नहीं पडे। उन्होंने अपना लक्ष सिर्फ व्यक्ति पर केंद्रित किया। व्यासजी के जिन त्रुटियों के प्रति जनता को रोष हुआ। संतों ने उनको त्याग दिया। संतों ने सकाम यज्ञों को और तपस्याओं को निषिध्द माना। व्रत वैकल्य और अनुष्ठानों का घोर विरोध किया। संतोंने

हरिनामस्मरण को अपनाया। लेकिन सकाम और फलदायी नामस्मरण को भी निषिध्द ठहराया। संतों ने निष्काम और फलरहित हरिनामस्मरण को श्रेष्ठ ठहराया और अपनाया। संतों ने नामस्मरण का ही जनता में उपदेश दिया और उसका यथेष्ठ रूप से सर्वत्र प्रचार किया। निष्काम हरिनामस्मरण का फल मरने के बाद ही मिलता है पहले नहीं। इसलिए आरंभ काल में संतों के प्रति जनता ने ज्यादा रुचि नहीं दिखाई। जनता अपने व्रत वैकल्य और अनुष्ठान करने में ही मग्न रही। लेकिन संत बडे धूर्त निकले। पहले तो इन्होंने जनता से आक्षपार्ह ठहराए हुए व्यासजी के सारे उपदेश और सारी विधियां त्याग दी। अब जनता को आकर्शित करने इन्होंने मंदिरों को महत्त्व दिया। मंदिर में किसी भगवान की मूर्ति रहती है। भगवान की त्रिकाल पूजा अर्चा होती है, भजन होते हैं, तीर्थ प्रसाद दिया जाता है, अन्नदान भी रहता है। कुछ उत्सव मनाए जाते हैं। लोग जमा होते हैं। यथेष्ठ भोजन मिलता है। धूम धाम होती है। कभी कभी मेले लगते हैं। लोगों को बडा आनंद मिलता है। जनता ने इस विधी को मनपूर्वक अपनाया।

संतों ने मंदिर बनवाए। वैसे ही जनता ने संतों के लिए मंदिर बनवाए। अब मंदिर बडे ही कलापूर्ण बनने लगे। दसवें शतक से कलायुक्त मंदिरों का निर्माण आरंभ हुआ। खजुराहो के प्रसिध्द कलापूर्ण मंदिरों का निर्माण दसवें शतक के मध्य में आरंभ हुआ ऐसा माना जाता है। इसके पूर्वकाल के मंदिर रहे थे। गुप्त काल के, कुषाण काल के, सातवाहन काल के भी अनेक मंदिर रहे थे। प्रमाण कुछ कम था। व्यासजी ने मंदिरों को महत्त्व दिया है और उनके पीठस्थ आचार्यो ने मंदिर निर्माण किए हैं ऐसा कुछ दिखाई नहीं देता। पुरातन काल से यानि ईसा पूर्व एक शतक से मंदिर रहे थे। लेकिन किसी का राज्य चले जाता था। गाव उजाड हो जाता था। मंदिर भी उजाड और भग्न हो जाता था। बाद में कभी तो कभी संत महात्मा वहां बैठता था। उस मंदिर का

जीर्णोद्धार होता था। मूर्ति पुरातन रहती थी। लेकिन बाहर का वास्तुशिल्प तत्कालीन बन जाता था। ऐसे जीर्णोद्धार की प्रक्रिया आज तक चलती आ रही है। देश में और विशेष कर दक्षिण भारत में दसवें शतक के बाद के अगणित सुंदर और कलापूर्ण मंदिर आज भी हैं। अनेक मंदिरों में विधिवत पूजा अर्चा होती है। कुछ भग्न हो गया हैं। आज भी असंख्य नए मंदिर बनते हैं।

संत परंपराओं में मंदिरों का और मठों का बहुत ही महत्त्व रहा था। एक संत का वचन ऐसा है।

कट्ट खड़के दुग्गड़ बाजे जलता रहे चुल्हा।

मंदिर निर्माण होते समय, पथ्थर तराशते समय, हथोडे की कट कट ध्वनि सर्वत्र गूंजती रहे। दुग्गड़, पखवाज, ढोलक बजते रहे और भजन होते रहे। पाकशाला में चूल्हा निरंतर जलता रहे, प्रसाद बनता रहे और जनता भोजन पाती रहे।

संतों के कारण मंदिरों का महत्त्व बढा। मंदिरों से संतों की आराधना हुई। संतों को प्रेरणा मिली और अंत में सर्वोत्तम संत साहित्य निर्माण हुआ। मंदिरों के माध्यम द्वारा संत महात्माओं ने बहुत ही अधिक प्रमाण पर लोकसंग्रह का कार्य किया। लोक संपर्क से इन महात्माओं को आम जनता के सुखदुख और समस्याओं का परिचय हुआ और अनुभव मिला। जनता की समस्याओं का आभास संत साहित्य में मिलाता है और समस्याओं का परिहार और निवारण के प्रति संत उपदेश भी करते हैं। जिससे जनता को शांति मिलती है। उस काल मुसलमानों का आधिपत्य सर्वदूर हो गया था। जनता उनके अत्याचारों से बहुत ही त्रस्त थी। ऐसे वातावरण में संतों ने लोक संग्रह, लोक प्रबोधन और जागरण का कार्य बडे ही सुचारू रूप से किया था। और यही संत महात्माओं का भारतीय समाज पर उपकार रहा है। मीराबाई, सूर, तुलसी, चैतन्य प्रभु, तुकाराम, पुरंदरदास, आंडाल इत्यादि संतों के भजन आज भी जनता

तन्मय होकर गाती है और सुख शांति का अनुभव लेती है।

संतों पर ऐसा आक्षेप है कि विदेशी आक्रमणकारी मुसलमानों के विरूध्द, उन्होंने यहां चाणक्य निर्माण क्यों नहीं किया। यह उनका दोष नहीं है। उनके पूर्वकाल में व्यासजी ने जो साहित्य लिखकर जनता को उपदेश दिया था उसका परिणाम है। व्यासजी के उपदेशों से जनता अकर्मण्य, संवेदनाहीन और आत्मकेंद्रित बन गई थी। भारत का क्षेत्र और आबादी बहुत ही विशाल रही है। इसलिये समाज की गतिविधियों में परिवर्तन सौ पचास वर्षों में नहीं किया जा सकता। उसके लिए चार पांच सौ वर्षों का काल लग जाता है। भारतीय कर्मण्य समाज को अकर्मण्य बनाने के लिए व्यासजी को चार पांच सौ वर्ष लग गये थे। वैसे ही व्यासजी निर्मित अकर्मण्य भारतीय समाज को कर्मण्य बनाने के लिए संतों को भी चार पांच सौ वर्षों की अवधि लग गई थी। और औरंगजेब जाने के बाद भारतीय समाज ने करवट बदलना आरंभ किया।

व्यासजी ने जनता को सकाम उपासनाओं का उपदेश दिया था जैसे तपस्या, व्रत वैकल्य, अनुष्ठान, हरिनामस्मरण इत्यादि। संतों ने इन सभी सकाम उपासनाओं को संपूर्ण रूप से निषिध्द ठहराया। संतों का उपदेश 'सत्यं वद ।धर्मं चर। ' और निष्काम भक्ति ही रहा था। उन्होंने व्यासजी के भागवत ग्रंथ में निर्देशित समाज जीवन संबंधित शास्त्रीय विवेचन संपूर्णतः अपनाया। जैसे देह गेह का भेद मिटाना। भाई बंधु, माता पिता, परिवार, देश, लोक ये उपाधियां जीव की अविद्या है। इत्यादि इत्यादि। संतों ने इन्हीं संकल्पनाओं का जनता में उपदेश दिया। कुछ संतों ने गीता को अपना आधार ग्रंथ माना। लेकिन अधिकांश संतों ने भागवत पुराण को ही आधार ग्रंथ माना और भागवत के उपदेशोंका ही जनता में प्रचार किया है। संतां के संपूर्ण साहित्य में और कविताओं में भागवत ग्रंथ की ही झलक दिखाई देती है। इन्होंने अपनी सारी रचनाएं स्थानिक भाषा में की जिसे जनता आसानी से समझ सके।

विचित्र रसायन| भारतीय जनता एक अति विचित्र प्रकार का रसायन है। भारतीय जनता को आज तक कोई भी नहीं समझ सका। यह कब तुष्ट होती है और कब रुष्ट। इसे शायद विधाता ने भी नहीं समझा होगा। भगवान श्रीकृष्ण ने सारे जगत को गीता का अमृततुल्य उपदेश दिया। लेकिन उनके सामने ही उनके उपदेशों को यादवों ने ठुकरा दिया। रावण वध के बाद असंख्य वानर समाज अयोध्या में आया। जनता को आंखों देखा युध्द का वर्णन कहा। सीताजी की अग्नि परिक्षा और दशरथजी का उपदेश, इन प्रसंगों का वानरों ने रसभरित वाणी से जनता में वर्णन किया। फिर भी जनता ने सीताजी के शील पर शंका उठाई। सीताजी को वनवास भेजना पडा। व्यासजी ने लगभग पांच सो वर्षों तक अपनी सारी तपश्चर्या अर्पण कर पुराण ग्रंथों की रचना की और जनता को धर्मानुसार आचारण करने का भरसक उपदेश दिया। लेकिन जनता ने व्यासजी का कुछ भी नहीं सुना। बल्कि उनके जीवन काल में उनका अवमान किया, तिरस्कार किया जिससे व्यासजी निराश और हताश हुए। जनता ने सिर्फ व्यासजी निर्मित व्रत अनुष्ठानों की उपासना को ही सहर्ष स्वीकारा और अपनाया। बाकी सारे उपदेश ठुकरा दिए। यही हाल संतों का हुआ।

संतों ने जनता को स्थानिक भाषाओं में उपदेश दिया और जनता ने भी उनके उपदेशों को भक्तिभाव से तन्मय होकर सुना। जनता ने भी संतों के साथ भजन किया और उनके गीत गाए। संतों के साथ जनता ने भी नाचा कूदा। तीर्थ यात्रा की। प्रसाद खाए। लेकिन जनता ने संतों का एक भी उपदेश नहीं स्वीकारा। इसके विरूध्द संतों ने निषिध्द ठहराई हुई सारी उपासनाएं जनता ने अपनायी। जनता व्रत वैकल्य, अनुष्ठान जादू टोना, अनेक देवी देवताओं की पूजा अर्चा, मिष्टान्न प्रसादों में आकंठ डूबी रही। संतकाल में असंख्य जातियां निर्माण हुई। जातियों के नियम अत्यंत कठोर बने। छुआ छात का प्राबल्य रहा। दलितों को

अमानवीय व्यवहार मिला। व्यक्ति समाज और देश के प्रति संवेदनाहीन बना। व्यासजी जैसे जनता ने संतों का तिरस्कार नहीं किया बल्कि श्रध्दापूर्वक और भक्तिभाव से उनका यथेच्छ बहुमान किया। संतों ने आजीवन जनता में रहकर उसको उपदेश दिया। फिर भी जनता ने संतों का कुछ नहीं सुना। जनता तो अपनी ही मानसिकता और रीति रीवाजों में संपूर्णतः रत रही।

हमने पीछे देखा है कि जनता ने स्मृतिकारों के नियमों को नहीं स्वीकारा। गीता और कृष्ण के उपदेशों को नहीं माना। व्यासजी का तिरस्कार किया। संतों का भी नहीं सुना। इस प्रकार आरंभ से ही भारतीय जनता का रसायन या रचना एक विशिष्ट रूप से विचित्र रही है। इसका प्रवाह सदैव ही अपने ढंग से बहता रहता है। इसके स्वार्थ में जो आया उसे स्वीकारा वरना नहीं। अनेक विभूतियों को उनके कार्यकाल में जनता से अवमानित होना पडा। लेकिन दो तीन सौ वर्षों के बाद इनके उपदेशों से जनता पर कुछ प्रभाव पडा है ऐसा भी दिखाई देता है। इस विवेचन से एक निष्कर्ष निकाला जा सकता है। भारतीय जनता इन महान विभूतियों को जमीन में गाड़ देती है और ऊपर से मिट्टी बिछाकर ढक देती है। उसके उपर खडे होकर जनता हंसती है और हंस कर कहती है कि विभूतियों नीचे पडी रहो। मुझे जब आवश्यकता होगी मैं तुमको उपर निकाल कर तुम्हारा उपदेश ग्रहण करूंगी।

व्यासोच्छिष्टं हमें एक श्लोक देखने मिलता है

व्यासोच्छिष्ठं जगत सर्वम्।

व्यासजी के उच्छिष्ठ से ही जगत के संपूर्ण साहित्य की रचना हुई है। व्यासजी ने अपने साहित्य में जो कथाएं लिखी हैं। उनके आधार पर ही जगत के संपूर्ण लेखकों ने रचना की है। लेकिन उपर के विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि व्यासजी के पूर्वकाल में जो साहित्य निर्माण हुआ

था उनके आधार पर ही व्यासजी ने अपने साहित्य की रचना की थी। इसका अर्थ ऐसा कि भारतीय साहित्य के उच्छिष्ठ से व्यासजी ने पुराण, भागवत आदि ग्रंथों की रचना की थी। इस श्लोक का दुसरा अर्थ लगाते समय हम निश्चित रूप से मानते हैं कि महाभारत कालीन व्यास और पुराण रचनाकार व्यास दोनों एक व्यक्ति नहीं थे बल्कि दो भिन्न व्यक्ति रहे थे। क्योंकि महाभारत काल और पुराण रचना काल इन दोनों कालों का अंतर लगभग ३५०० वर्षों का रहा था। आधुनिक काल में ज्ञान विज्ञान की अनेक शाखाओं में बडे प्रमाण पर संशोधन हुए हैं और हो रहे हैं। यदि कोई विद्वान कहे कि पुराण रचनाकार व्यास महाभारत कालीन रहा था तो उसके प्रमाण और सबूत सामने रखे। हम उसे स्वीकार करेंगे और उसके अनुसार इस विवेचन में दुरुस्ती करेंगे। प्राच्य विद्वानों के मतानुसार उत्तर गुप्तकाल या छटे शतक के आरंभ में पुराण रचना आरंभ हुई। प्रथम पुराण मत्स्यपुराण रहा था और अंतिम भागवत महापुराण की रचना दसवें या ग्यारहवें शतक में हुई ऐसा माना जाता है। इस प्रकार पुराण रचना काल पांच छह सौ वर्षों तक चलता रहा था। इसलिए पुराणों का लेखक एक व्यक्ति नहीं हो सकता। यह कार्य व्यासजी के आश्रम या पीठ से हुआ था। व्यासजी के पीठ या आश्रम के अनेक आचार्यों ने पुराणों की रचना की और सभी लेखकों को वेदव्यास के नाम से संबोधन किया गया। हमने भी इस विवेचन में रूपक की दृष्टि से व्यासजी को ही प्रमाण माना है।

व्यासजी की उपस्थिति संपूर्ण महाभारत काल में रही थी। महाभारत कालीन घटनाओं का इतिहास या आंखों देखा हाल इन्होंने जय नामक ग्रंथ में लिखा। व्यासजी के जय नामक ग्रंथ में लगभग आठ हजार श्लोक संख्या रही थी। व्यासजी ने जय ग्रंथ में महाभारत कालीन समस्त विभूतियों के कार्य और उनके मौलिक विचारों को अंकित किया था। जय में व्यासजी ने अपने स्वतः का कोई मौलिक विचार नहीं लिखा। इसके

बाद वैशंपायन ने जय का विशदीकरण कर भारत नाम का ग्रंथ लिखा। आज द्वैपायन का जय ग्रंथ और वैशंपायन का भारत ग्रंथ उपलब्ध नहीं हैं। इसके बाद अनेक वर्षों की अवधि में अनेक आचार्यों ने विविध प्रकार की कथाएं भारत में जोड दी। अंत में इन सभी कथाओं का संकलन और विशदीकरण करके सौति आचार्य ने महाभारत ग्रंथ की रचना की। इस में लगभग एक लाख श्लोक रहे हैं और यही ग्रंथ आज तक हमारे पास उपलब्ध है। इस प्रकार महाभारत ग्रंथ के साथ तीन आचार्य, व्यासजी या द्वैपायन, वैशंपायन और सौति संलग्न रहे थे। इस बृहद् ग्रंथ में व्यासजी के स्वतः का कोई मौलिक विचार नहीं है। शायद वैशंपायन ने विशदीकरण करते समय अपने कुछ मौलिक विचार भारत ग्रंथ में अंकित किये होंगे। लेकिन सौति के मौलिक विचार भारत ग्रंथ में दिखाई नहीं देते। उन्होंने सिर्फ संकलन और विशदीकरण किया है। महाभारत ग्रंथ में जो मौलिक संकल्पनाएं और सिध्दांत अंकित हैं उनके लेखक आचार्यों के नाम आज उपलब्ध नहीं है। फिर भी महाभारत ग्रंथ संपूर्ण रूप से कृष्ण द्वैपायनाचार्य या महर्षि वेदव्यास की ही रचना मानी जाती है।

इस विवेचन से स्पष्ट होता है कि उपनिषद काल से महाभारत काल तक और महाभारत काल से पुराण रचना काल यानि छटे शतक तक व्यासजी का खुद का एक श्लोक कहीं पर भी दिखाई नहीं देता। महर्षि व्यास व्यक्ति का उल्लेख मिलता है। इस अवधि में ज्ञान विज्ञान की अनेक शाखाओं में जैसे दर्शन, तत्वज्ञान, काव्य, नाटक, वैद्यक, गणित, तंत्र इत्यादि विषयों में संस्कृत और प्राकृत भाषाओं में अति विपुल प्रमाण पर ग्रंथ रचना हुई है। इनमें व्यासजी के विचारों का 'इति व्यासः' ऐसा कहीं पर भी उल्लेख नहीं मिलता। इन ग्रंथ भांडारों को हम व्यासजी का उच्छिष्ठ कैसे मान सकते हैं। सांख्य, योग, रामायण, गीता, ब्रह्मसूत्र, इत्यादि और बौद्ध और जैनों के प्राकृत और

संस्कृत ग्रंथों को व्यासजी का उच्छिष्ठ मानना सर्वथा अज्ञानमूलक है। यहां तक शांकर भाष्यों में व्यासजी का उल्लेख नहीं है। पुराणा रचना काल के समाकालीन आचार्यों ने व्यासजी की रचनाओं को कनिष्ठ ठहराकर उनका अवमान किया था। पुराण ग्रंथों में उनके पूर्वानुवर्ती लेखकों के ग्रंथों से कथाएं, घटनाएं, सिद्धांत, मौलिक विचार लेकर अंकित किये गये हैं। पुराण ग्रंथों में व्यासजी के भी अपने खुद के विचार अंकित हैं। इस प्रकार सारे पुराण ग्रंथों को उनके पूर्वकालीन लेखकों के ग्रंथों का उच्छिष्ठ क्यों नहीं मानना चाहिए।

व्यासजी की अंतिम रचना भागवत महापुराण, इस पर आदि शंकर के सिद्धांतों का यथेष्ठ प्रमाणपर प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। सच तो यह है कि व्यासजी ने भागवत ग्रंथ को एक खिचडी बना दी है। भागवत ग्रंथ में पूर्व लेखकों की सारी कथाएं, दर्शन संबंधी सारे मत और सिद्धांत, बौद्ध और जैन मतों के सिद्धांत और नियम इत्यादि को महत्त्व देकर व्यासजी ने इनको अपनी भाषा में लिख दिया है। इसमें संन्यासमार्ग, तपस्या, सकाम और निष्काम निष्ठा, गृहस्थाश्रम, भक्ति को ज्यादा प्रमाणपर महत्त्व दिया गया। इस प्रकार भागवत ग्रंथ कृष्ण भक्ति का एक अनुपम और परमश्रेष्ठ ग्रंथ बन गया है। व्यासजी अति पूजनीय ऋषि रहे हैं और उनके विरुद्ध लिखना सर्वथा अनुचित है। फिर भी खेद से लिखना पडता है की व्यासजी ने अपने पुराण और भागवत ग्रंथों की रचना उनके पूर्वकालीन लेखकों के ग्रंथों के आधार पर ही की है। इसलिए इनकी रचनाओं को उच्छिष्ठ क्यों नहीं मानना चाहिए?

व्यास्तविक परिस्थिति ऐसी रहनेपर भी व्यासजी को परमश्रेष्ठ महर्षि माना जाता है। उनका श्रद्धापूर्वक बहुमान किया जात है। क्यों? शायद इसका कारणा ऐसा रहा होगा। व्यासजी के बाद संत महात्माओं का काल आरंभ होता है। संत महात्मा लोग ज्ञान में पारंगत नहीं थे। वे तो अपने आराध्य देवता के उत्कृष्ठ भक्त रहे थे। इन्होंने अपनी भक्ति

रस की रचनाओं के लिए भक्तियोग के अनुपम भागवत ग्रंथ को ही आधार माना। इसलिए संत महात्मा, व्यासजी के उत्तराधिकारी कहलाए। संतों ने और संस्कृत विद्वानों ने व्यासजी को और भागवत ग्रंथ को बहुत ही श्रद्धापूर्वक बहुमान दिया। लेकिन भारतीय समाज ने संतों का और व्यासजी का भी सन्मान नहीं किया। इस आरोप पर भक्तगणों को रोष होगा यह हम मानते हैं। लेकिन ऐसा एक उदाहरण है।

लोककथा। भगवत्कथा या लोककथा! हमारे पास सारे देश में भगवत् कथाओं का निरूपण समाज में सदैव होता रहता है। यह परंपरा वेदकाल से चली आ रही है। शायद यह परंपरा वेद पूर्वकाल में भी रही होगी। मानव का यह नैसर्गिक स्वभाव रहा है कि उसे जब विश्रांती मिले तो आपस में वह चर्चा करता है। वेदकाल में यज्ञ समाप्ति पर आचार्य वर्ग विश्रांती हेतु एकांत में या वन में जाकर चर्चा करते थे और इन चर्चाओं से आरण्यक विभाग और उपनिषदों की निर्मिती हुई थी। महाभारत काल से शुक, वैशंपायन, सूत, सौति, शौनक इत्यादि की चर्चाओं का विस्तारपूर्वक वर्णन मिलता है। बौद्ध विहारों में और जैन उपाश्रयों में साधना और धार्मिक चर्चाएं होती थी। यह परंपरा आज तक चली आ रही है। इसे आज हम भगवत्कथा, रामकथा, हरिकथा इत्यादि के नाम से संबोधित करते हैं। भागवत ग्रंथ निर्माण होने के बाद इन कथाओं में अधिकांश रूप से भागवत में वर्णित कथाओं का ही वर्णन किया जात है। वैसे ही इनमें जीवन संबंधित नीति नियम, तत्वज्ञान, संकल्पनाएं इत्यादि सारे भागवत ग्रंथ जैसे ही रहते हैं। ये कथाएं शहरों में होती हैं वैसे ग्रामीण भाग में भी होती हैं और इन में समाज का सारा वर्ग, स्त्री पुरुष सुनने आता है। जब कभी कोई अच्छा कथावाचक मिल जाता है तब लोग भगवत्कथा का या लोककथा का आयोजन करते हैं। इस प्रकार ये कथाएं भारतीय समाज का एक अविभाज्य अंग बन गई है।

इन लोककथाओं के लिए एक कहावत प्रसिद्ध है। कथा सुनने के लिए कोई पुत्र घर से जाता है। उस समय उसका पिता कहता है कि पुत्र, कथा सुनने के बाद अंगोछा झटक कर घर आना और पुराण कथाओं की बातें वहीं छोड देना, घर नहीं लाना। वैसे ही तरुणी को उसकी सास कहती है कि बहू, कथा के बाद पल्लू झटक कर घर आना। ऐसे उद्‌गार घर का कुटुंब प्रमुख आज सैकडों वर्षों से और देश के सभी प्रांतों में कथा सुनने जाते समय अपने कुटुंबियों को कहता आया है। कथा सुनाते समय कथावाचक श्रोताओं को कहता है कि भाईयों आपके बुजुर्ग आपको अंगोछा झटक कर घर आने को कहते हैं। हम आपको क्या खोटी बातें सुनाते हैं? हम तो आपको 'सत्यं वद। धर्मं चर।' इस प्रकार का ही उपदेश देते हैं। अब रहा दान का प्रश्न। वह आपकी मर्जी का विषय है। हमारा तो उदर भरण होना ही चाहिए। कथावाचक को लोक खाली हाथ नहीं जाने देते थे। फिर भी कुटुंब प्रमुख के अंगोछा झटक कर आने के उद्‌गार हर घर में हर समय में और हर गांव में निकलते आए हें। वास्तविक रूप से कोई कथावाचक जनता को अनीतिमान और खोटा उपदेश नहीं दे सकता और वह देता भी नहीं था। फिर भी ऐसा अंगोछा झटकने के उद्‌गार निकलते थे। क्यो? इस प्रसंग का किसी ने भी आज तक कोई सयुक्तिक उत्तर दिया है ऐसा कुछ दिखाई नहीं देता।

भगवत्‌कथा में अंगोछा झटकने के प्रसंग का शास्त्रीय कारण ऐसा रहता है। यदि हम ऐसा कहें कि ऐसे उद्‌गार व्यासजी के प्रति तिरस्कार दर्शाते हैं तो लोग हमें मूर्ख और अज्ञानी कहेंगे! लेकिन ऐसा नहीं है। अभी भी प्रसंगावश लोग आपस में यह कहते सुनाई देते हैं कि पुराणों की बातें पुराणों में ही रहने दो, व्यवहार में मत लाओ। पुराणों की कथाएं और उपदेश आज भी अव्यवहार्य और निरर्थक माने जाते हैं। निसर्ग का एक नियम है कि किसी घटना की जानकारी मानव के

अप्रत्यक्ष मन या मानस पटल पर अंकित होती है। यदि यह घटना मानव के लिए कुछ महत्वपूर्ण रहे तो इसकी स्मृति पीढ़ी दर पीढ़ी मानव को मिलती रहती है। हमने पीछे देखा है कि व्यासजी के कार्यकाल में ही उनके उपदेशों को और उनके निर्मित उपासनाओं को जनता ने प्रत्यक्ष अनुभव लेकर हानिकारक, निरर्थक और अव्यवहार्य ठहराया था और उनका भी यथेष्ठ अवमान किया था। इन घटनाओं की स्मृतियां प्रसंगानुसार आज भी भारतीय जनता के मानस पटल पर जागृत होती है और ऐसे उद्‌गार सुनाई देते हैं। कथाओं में अधिकांश रूप से पुराण और भागवत ग्रंथों में वर्णित कथाओं का, उपदेशों का और उपासनाओं का ही विवेचन किया जाता है। वृद्ध जब सुनता है कि गाव में भागवत कथा हो रही है और उसका पुत्र कथा सुनने जा रहा है। तो उसकी स्मृतियां जागृत होती हैं कि अतीत काल में हमारे पूर्वजों ने व्यासजी के उपदेशों और उपासनाओं का यानि तपस्या, व्रत वैकल्य और सकाम नामस्मरण, इनका प्रत्यक्ष अनुभव लेकर यह ठहराया था कि व्यासजी की सारी बातें बहुत ही हानिकारक, अव्यवहार्य और निरर्थक है। इसलिए बेटा, तू अब कथा में उन उपदेशों का, उपासनाओं का और उनके फलों का वर्णन सुनकर मत ललचाना। घर आकर वैसी उपासना मत करना जिससे मेरी और तेरी बहुत ही शारीरिक, मानसिक और आर्थिक हानि हो। इसलिए वृद्ध ऐसा उद्‌गार निकलता था। जनता अभी भी कहती है कि पुराणों की बातें पुराणों में रखो। जनता के ऐसे उद्‌गार व्यासजी के प्रति श्रद्धा बताती है या घृणा। यह वाचक ही ठरहाए।

हमने पीछे देखा है कि संतों ने मंदिर बनवाए और जनता में आजीवन रहे। जनता के सुखदुखों का अनुभव लिया, उनकी समस्याओं का परिहार करने के लिए भरसक प्रयत्न किया। जनता से संपर्क और संवाद करने व्यासजी ने कुछ प्रयत्न किया है ऐसा कहीं पर भी दिखाई नहीं देता। व्यासजी ने कोई मंदिर नहीं बनवाया। जनता से समरस नहीं

हुए। जनता के सुखदुख नहीं सुने। आदि शंकर जैसे इन्होंने देश की यात्रा नहीं की। तत्कालीन समाज के विद्वानों से संवाद नहीं किया। इन्होंने किसी भी प्रकार का लोकसंपर्क और लोकसंग्रह करने का प्रयत्न नहीं किया। व्यासजी अपने आश्रमों में बैठकर कल्पना विलास और मन रंजन में मग्न रहे और असंख्य कपोल कल्पित कथाएं लिखी। कल्प कल्पांत कालीन देश विदेशों के वर्णन लिखे। स्वर्ग और अप्सराओं के विलोभनीय, उत्तान और मन ललचानेवाले वर्णन लिखे। अनेक नरकों का निमार्ण कर उनके विभत्स और घृणित वर्णन लिखे। उन्होंने अनेक उपासनाओं का निर्माण किया और उनके फलों का मनोहारी वर्णन कर जनता को आकर्षित करने का भरसक प्रयत्न किया। अनेक पुराण ग्रंथों की रचना की और उनमें ऐतिहासिक प्रसंगों को विकृत रूप देकर कथांए लिखी। उन्होंने अपनी सारी मन रंजित रचनाएं और संकल्पनाएं गगनगामी बनाई थी। उन्होंने अपने पैर पृथ्वी पर कभी भी टिकने नहीं दिये। उन्होंने नीचे झुककर जनता को कभी भी नहीं देखा। इस प्रकार व्यासजी जनता के प्रति पीठ फेर दी थी। तो जनता ने भी व्यासजी के प्रति पीठ फिरा दी थी और आज तक पीठ फिराती रही है। सिर्फ संस्कृत भाषी विद्वान वर्ग व्यासजी का श्रद्धापूर्वक बहुमान करता है। लेकिन जनता उनका अवमान करती आई है और आज भी करती है।

राष्ट्रीयता। हमने पीछे देखा है कि व्यासजी और संतों के संपूर्ण रचनाओं में और साहित्य में राष्ट्र और देश शब्द कहीं नहीं है और राष्ट्र और देश के प्रति मानव का क्या कर्तव्य रहता है उसका भी कहीं उल्लेख नहीं है। भारतीय समाज राष्ट्र और देश को भूल बैठा था। अंग्रेज और युरोपीयन लोग आये। उन्होंने देखा की भारत में राष्ट्र नहीं है या Nation नहीं है। पहले नेशन Nation की संकल्पना युरोप में भी नहीं थी। गत दो तीन सौ वर्षों में युरोप में नेशन की संकल्पना का उदय हुआ

और बाद में उसको सुनियोजित स्वरूप दिया गया। आज वहां पर नेशन का प्रभाव क्षीण हो रहा है। सारा युरोप एक हो रहा है। युरोपीय नेशन की और भारतीय राष्ट्र की व्याख्याओं में महदंतर है। फिर भी हम नेशन को राष्ट्र कहते आये हैं। अंग्रेज आने के बाद भारतीय विद्वानों को पाश्चात्य विद्या का परिचय मिला। भारतीय विद्वानों ने पाश्चात्य विद्याओं का अध्ययन किया, उनको ग्रहण किया और उनमें पारंगत हुए। इस प्रकार तिलकजी के काल में यहां पर राष्ट्रीयता का उदय हुआ और उसके अनुगत अनेक आंदोलन हुए। अंग्रेजों ने दूषण दिया कि भारतीय लोग इतने असभ्य और पीछडे हुए हैं कि उनको अपना राष्ट्र भी मालूम नहीं था। हमने उनको राष्ट्र संबंधित नियम सिखाए। अंग्रेजों की इस गर्वोक्ति को भारतीय विद्वानों ने तालियां बजाकर स्वीकार किया कि अंग्रेजों ने हमें हमारी राष्ट्रीयता सिखाई। ऐसा मानते हुए भारतीय विद्वानों ने कभी आंख खोलकर यह नहीं देखा कि वास्तविकता क्या है। यहां पर जो व्यवहार होता है उसका कारण और मूल्यांकन भी वे कर न पाए।

हमारे यहां तीर्थयात्राएं हजारों वर्षों से चली आ रही हैं। भारतीय उपखंड में किसी प्रांत के लोग सारे भारत का प्रवास करते हैं। मंदिरों में और प्रवित्र स्थानों में विधिवत पूजा अर्चा करते हैं। इनको कहीं पर भी परायेपन का बरताव नहीं मिलता। सिर्फ पुजारी और पंडे लोग पैसे के लिए यात्रियों को सताते हैं। पर अन्य सभी कामों में उनके साथ स्वकीय जैसा ही बरताव किया जाता है। उत्तर भारत के लोग दक्षिण में जाते हैं। दक्षिण में उनको परकीय ऐसा बरताव नहीं मिलता। इस तरह सामाजिक अभिसरण की प्रक्रिया में किसी भी प्रकार का भेदभाव नहीं बरता जाता। निसर्गतः हम आपस में सभी को एक समझते हैं और एक ही देश के निवासी मानते हैं। यही हमारी नैसर्गिक राष्ट्रीयता रही है। भारत एक अति विशाल और खंड प्राय देश है।

फिर भी किसी भारतीय को सारे भारत में स्वकीय ऐसा ही बरताव मिलता है। उसको परकीय ऐसा बरताव कहीं पर भी नहीं मिलता। व्यासजी और उनके उत्तराधिकारी संतों के उपदेशों से हम हमारी राष्ट्रीयता और हमारी भूमि को भूल बैठे थे। अंग्रेज आये। हमें कुछ नई विद्याओं का ज्ञान मिला। हमारी विस्मृति जागृत हुई और हमें हमारी राष्ट्रीयता का ज्ञान मिला। हमारी राष्ट्रीयता उभर आई।

निसर्ग नियम ऐसा है कि किसी देश में या मानव समाज में कोई नई विचारधारा सौ पचास वर्षों में निर्माण नहीं की जा सकती। उसको अपनाने के लिए सैकडों वर्षों की आवश्यकता होती है। अंग्रेज यही कहते हैं कि हमने लगभग सौ वर्षों में भारतीय समाज को राष्ट्रीयता सिखा दी। निसर्गतः ऐसा नहीं हो सकता। एक उदाहरण है अरब देशों का। इराक, जार्डन, अरबस्तान, इजिप्त, लिबीया, इत्यादि अटलांटिक महासागर तक अरब देशों का। यह अरब जगत युरोप का पडोसी है। अरब जगत और पश्चिम युरोप का आज सैकडों वर्षों से संपर्क रहा है। आपस में संवाद रहा है। अंग्रेजों का और फ्रेंचों का अरब जगत पर आधिपत्य भी रहा है। इतने नजदीक रहने पर भी अंग्रेज और फ्रेंच अरब जगत को उनकी राष्ट्रीयता सिखा नहीं सके। आज भी एक अरब राष्ट्र नहीं है। सब अलग अलग देश हैं। हजारों वर्षों से अरब जगत कभी भी एक नहीं था। इस्लाम का उदय होने के बाद अरब जगत मुस्लिम बना। अरब जगत का धर्म एक हुआ। लेकिन उनमें राष्ट्रीयता का उदय नहीं हुआ। आधुनिक शिक्षा और ज्ञान भी अरब जगत में राष्ट्रीयता निर्माण नहीं कर सका। इससे यह स्पष्ट है की राष्ट्र और राष्ट्रीयता यह एक नैसर्गिक प्रक्रिया है। भूगर्भीय रचना की प्रक्रियाओं से ही राष्ट्र निर्माण होता है। मानव उसे निर्माण नहीं कर सकता। यदि मानव ने कहीं राष्ट्र निर्माण किया है तो वह अधिक समय तक नहीं रह सकता। जैसे पश्चिम युरोप। आज युरोप में मानव निर्मित फ्रांस, इटली,

जर्मनी, स्पेन इत्यादि देशों की राष्ट्रीयता जा रही है और संयुक्त युरोप बन रहा है। भूगर्भीय प्रक्रियाओं से भारत का भूगोल एक विशिष्ट प्रकार से बना हुआ है और इसी के प्रभाव से हमारी राष्ट्रीयता निर्माण हुई है। हजारों वर्षों से यहां पर किसी न किसी रूप से हमारी राष्ट्रीयता सजीव और सक्रिय रही थी। किसी काल उसका प्रभाव ज्यादा था और कभी कम था। हमारी राष्ट्रीयता का प्रभाव क्षीण होने का कारण व्यासजी के अव्यवहारिक उपदेश रहे थे।

उपसंहार। अब प्रश्न ऐसा है कि व्यासजी के अव्यवहारिक और हानिकारक संकल्पनाओं के क्या कारण रहे थे। उन्होंने ऐसी संकल्पनाओं की रचना क्यों की थी? इन रचनाओं के मूल में कोनसी प्रेरणा रही थी? किन प्रेरणाओं के कारण उनकी प्रतिभा जागृत हुई थी। निसर्ग का नियम है कि समाज के वातावरण में से लेखक निर्माण होता है। समाज के सुख दुखों से निर्मित गतिविधियों की अनुभूति लेखक को मिलती है। अनुभूति से प्रतिभा जागृत होती है और लेखक अपनी अभिव्यक्ति करता है। हमने पीछे देखा है कि उत्तर गुप्तकाल से राष्ट्रकूटकाल तक समाज में स्वर्णयुग रहा था। निसर्गतः समाज में शांती और संपन्नता आती है तब काव्य शास्त्र विनोद के साहित्य निर्माण होते हैं। इस काल में भवभूति, माघ इत्यादि महाकवियों की प्रतिभाएं जागृत होकर मालती-माधव, शिशुपालवधम् जैसे अति सुंदर महाकाव्यों की निर्मिति हुई। इन कवियों की रचनाओं में अकर्मण्यता का लवलेष ही दिखाई नहीं देता। तो फिर व्यासजी को क्या सुझी कि पुराण ग्रंथों की रचना करके समाज को मोक्ष का रस्ता दिखावे। पुराण ग्रंथों में अनेक प्रसंगोंपर संस्कृत भाषा का सुंदर आविष्कार मिलता है। वैसे ही श्रृंगारयुक्त अप्सराओं के मन ललचानेवाले वर्णन भी मिलते हैं। लेकिन इन रचनाओं का मुख्य उद्देश मोक्ष प्राप्ति का ही रहता है। व्यासजी ने राष्ट्र की

संकल्पना को नष्ट कर दिया और राष्ट्र के प्रति समाज के कर्तव्यों को भी भुला दिया। क्यों?

देश में शांति और संपन्नता इस काल के पूर्व भी इतिहास में दिखाई देती है। मौर्य और शुंग काल में समाज अति संपन्न रहा था। वैसे पूर्व गुप्तकाल भी स्वर्ण युग माना जाता है। इन कालों में मौलिक ग्रंथों की विपुल प्रमाणपर रचना हुई। इनमें चाणक्य का अति प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। इन रचनाओं से विदेशियों को देश के बाहर खदेडने के लिए समाज को प्रेरणा मिलती थी। परिणामतः सारें विदेशी आक्रमणकारियों को देश के बाहर निकाल दिया गया और जो विदेशी देश में रहे उनको संपूर्णतः विलीन कर दिया गया। इस प्रकार समाज कार्यशील, उग्र और गतिशील रहा था। तो फिर यह प्रक्रिया मुस्लिम आक्रमणकारियों के विरुद्ध क्यों नहीं हुई? समाज में प्रतिकार करने की क्षमता सिथिल क्यों हुई? इतिहास बताता है कि शकों के साथ हमारा संघर्ष लगभग तीन सौ वर्षों तक रहा था। संघर्ष से शकों में थकावट आई, कमजोर बने और उनका आधिपत्य जाता रहा। अंत में उनको भारतीय समाज में विलीन होना पडा। वैसे ही मुसलमानों के साथ हमारा संघर्ष रहा था। शकों के समान लगभग छह सात सौ वर्षों के संघर्ष से मुसलमानों में थकावट नहीं आई। लेकिन आरंभ से ही हम मुसलमानों का प्रतिकार न कर सके। हमारी प्रतिकार शक्ति क्षीण हो गई थी। इस का दोष व्यासजी को और उनके उत्तराधिकारी संतों को दिया जाता है। लेकिन ऐसा कहना ज्यादा सयुक्तिक दिखाई नहीं देता।

यहां पर मुसलमान आये। आधिपत्य जमाया। यथेच्छ लूटमार की। स्त्रियोंपर बलात्कार किए। अनन्वित अत्याचार किए। जबरदस्ती से धर्मांतर किया और विपुल प्रमाणपर मुसलमान बनाए। यह सारी प्रक्रिया सभी आक्रमणकारियों ने यहां पर अपनाई थी। शकों ने और हूणों ने भी यही किया। लेकिन कुषाणों के अत्याचारों का उल्लेख कहीं

नहीं मिलता। हर मानव समाज का अपना अपना धर्म रहता है। ग्रीकों का ग्रीक धर्म था। शकों का और हूणों का भी अपना अपना धर्म था। कुषाणों ने तो अपने राज्यकाल में ही बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया था। कुछ शक क्षत्रप अधिकारी जैन बन गये थे। विदेशियों के कार्यकाल में अनेक स्थानीय लोगों ने उनके धर्म को स्वीकार किया था। कुछ स्वार्थवश और कुछ जबरदस्ती से धर्मांतरित हुए थे। लेकिन विदेशियों का आधिपत्य जाने के बाद उनके अत्याचारों की सारी स्मृतियां नष्ट कर दी गई। धर्मांतरित लोगों को शुद्ध किया गया। विदेशियों ने भी भारतीय धर्म, जैन, बौद्ध, सनातन धर्म स्वीकार कर लिया। लेकिन यह प्रक्रिया मुसलमानों के लिए नहीं हुई। धर्मांतरित मुसलमानों को हम वापिस हिन्दू न कर पाये। राजकीय शक्ति के साथ ही सामाजिक अभिसरण की शक्ति भी क्षीण हो गई थी। हिन्दू समाज ने अपने दरवाजे संपूर्णतः बंद कर दिये थे। किसी परधर्मी को शुद्ध कर हिन्दू बनाना घोर पातक ठहराया गया। हमारी ऐसी मानसिकता क्यों हुई?

आदिशंकर के काल में भारतीय समाज के दरवाजे संपूर्णतः खुले हुए थे। उन्होंने बौद्धों को शुद्ध किया और वैदिक धर्मानुयायी बनाए। वैसे ही बचे हुए हूणों को भी समाज में विलीन कर लिया गया। शंकर के संपूर्ण साहित्य और उपदेशों में परधर्मियोंको वेदानुयायी न बनाया जाए ऐसा कहीं पर भी नहीं मिलता। उनका उद्देश तो 'कृण्वंतो विश्वमार्यम्' जगत में सब को वैदिक धर्मानुयायी और अद्वैतमत के अनुयायी बनाने का रहा था। श्रीमद् भागवत पुराण की रचना शंकर के लगभग दो सौ वर्ष बाद हुई थी ऐसा माना जाता है। भागवत में भी परधर्मियों को कृष्णभक्त न बनाया जाए ऐसा कहीं पर भी नहीं है। शंकर ने दिग्विजय यात्रा कर सब को वेदानुयायी बनने का प्रत्यक्ष उपदेश दिया था और समाज से अनुरोध किया था कि सब को वेदानुयायी बनाए। भागवत के लेखक ने या व्यासजी ने कृष्णभक्ति का प्रत्यक्ष प्रचार कहीं पर भी जाकर

नहीं किया था। लेकिन भागवत कथावाचकों ने संपूर्ण देश में और स्थानिक भाषाओं में यथेच्छ रूप से कृष्णभक्ति का प्रचार किया था। भागवत रचना काल के लगभग दो सौ वर्षों के बाद मुसलमानों का आधिपत्य होना आरंभ हो गया था और जबरदस्ती से धर्मांतर कर मुसलमान भी बनाये गये थे। अब मुसलमानों के लिए हमारे दरवाजे बंद हो गये थे। क्यों? इन दो सौ वर्षों की अवधि में हमारी सामाजिक मानसिकता क्यों बदल गई जिससे हमारे दरवाजे बंद हो गये और जबरदस्ती से धर्मांतरित मुसलमानों को वापस न ले पाये। विदेशी मुसलमान तो बाहर से आये थे। इसलिए उनसे हमारी आत्मियता नहीं थी। लेकिन धर्मांतरित मुसलमान तो हमारे ही समाज का एक अंग था। वे हमारे भाई थे। हमारे परिवार के थे। तो फिर इनको शुद्ध कर वापिस क्यों नहीं लिया गया? क्या कारण रहे थे? इस अवधि में ऐसी कौनसी घटनाएं घटित हुई थी और कैसे प्रसंग निर्माण हुए थे जिससे परधर्मियों के लिए हमारे दरवाजे बंद हुए थे। इस प्रश्न का सयुक्तिक और शास्त्रीय उत्तर अब तक तो नहीं मिल सका। यही संशोधन का विषय बन गया है।

वैसे देखा जाए तो उस काल परधर्म यानि इस्लाम भारतीय समाज के लिए नया नहीं रहा था। आठवें शतक में मुसलमान सिंध में आ गये थे। मुस्लिम प्रवासी और व्यापारी सारे देश में फिरते थे और कुछ लोग यहां पर रहने भी लग गये थे। भागवत ग्रंथ में यवनों और तुर्कों का उल्लेख मिलता है। यदि हम कहें कि मुसलमानों के कार्यकाल में इन धर्मांतरित मुसलमानों का यदि वापिस लिया गया होता तो उन्हें कठोरतम दंड मिलता। इसलिए उनको वापिस हिन्दू नहीं बनाया गया था। पर सोलहवें शतक के मध्य तक दक्षिण में शक्तिशाली विजयनगर का राज्य था। तो उनके राज्य में मुसलमानों को हिन्दू क्यों नहीं बनाया गया। उस काल दक्षिण में वैदिक धर्मानुयायी राजा जैन और बौद्ध

आचार्यों के उपदेशों से जैन और बौद्ध बनते थे और वैदिक आचार्यों के उपदेशों से जैन और बौद्ध राजा वैदिक होते थे। चालुक्य इत्यादि वंशीय राजाओं में अनेक राजा जैन रहे थे वैसे वैदिक धर्मी भी थे। होयसळवंशी जैन राजा बिट्टीदेव को रामानुज ने उपदेश कर वैष्णव बनाया। इस प्रकार धर्मांतर का अभिसरण समाज में चलता रहता था। लेकिन यह प्रक्रिया मुसलमानों के लिए नहीं हुई।

दक्षिण में बहमनी राज्य के पांच टुकडे हुए। उनमें से दो शाखा यानि अहमदनगर के निजामशाही और बरार के इमादशाही के संस्थापक ब्राह्मणों के बेटे थे। जब ये धर्मांतरित सरदार निजामशाही और इमादशाही के संस्थापक सुलतान बने तब उनके पास कोई हिन्दू आचार्य उन्हें उपदेश देने नहीं गया कि तुम अब वापिस हिन्दू बन जावो। क्यों? इन सुलतानों के सिर्फ एक पीढी पूर्व उनपर ब्राह्मणों के संस्कार रहे थे। उनकी सेना में सारे हिन्दू थे और उनकी प्रजा भी हिन्दू थी। यदि ये सुलतान हिन्दू बन जाते तो उनको अपनी प्रजा से ज्यादा सहानुभूति और सहयोग मिलता और उनका राज्य अधिक समय तक रहता। लेकिन ऐसा नहीं हुआ। उस काल दक्षिण में विजयनगर का शक्तिशाली राज्य रहा था। वहां पर अनेक दिग्गज संस्कृत विद्वान भी थे। फिर भी उन विद्वानों में से किसे भी वेदों में वर्णित सूत्र 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' का अर्थ और महत्त्व नहीं समझा और न उनमें से कोई सुलतानों को समझाने गया कि तुम हिन्दू बन जावो। वैसे ही विजयनगर राज्य के अधिपतियों को भी कोई प्रेरणा न हुई कि उन सुलतानों को हिन्दू बनाया जाए। उस काल सभी 'कृण्वंतो विश्वमार्यम्' भूल बैठे थे। उनकी जगह पर एक नया सिद्धांत छा गया था कि हिन्दू जन्मता है लेकिन बनाया नहीं जा सकता।

आश्चर्य की बात यह है कि जैनों ने पूर्वकाल में शक क्षत्रपों को जैन बनाए थे। वैसे ही अनेक वेदानुयायी राजाओं को भी जैन बनाए थे। लेकिन इन्होंने भी किसी मुसलमान सुलतान को उपदेश नहीं दिया कि

तुम जैन बन जाओ। आधुनिक काल में नानकदेव ने उपदेश देकर शीख पंथ की स्थापना की और पंजाब में लोग शीख बने। लेकिन उन्होंने भी मुस्लिम समाज में उपदेश दिया है और बडे प्रमाणपर मुसलमानों को शीख बनाया है ऐसा कुछ दिखाई नहीं देता। मुसलमानों को म्लेच्छ यानि बहुत ही निकृष्ठ और अछूत माना जाता था। लेकिन अनेक दलित जातियां आज भी जैन हैं और शीखों में भी दलित वर्ग है। इसका स्पष्ठ अर्थ यह है कि जैन और शीखों के पास भी मुसलमानों के लिए दरवाजे बंद रहे थे। बौद्धों ने भी अति दूर्गम तिबेट के पर्वतीय क्षेत्र में जाकर पूरे समाज को बौद्ध बनाया। वैसे ही अतिदूर मंगोलिया के रेगिस्थान में भी जाकर सारे समाज को बौद्ध बनाया। लेकिन बौद्ध आचर्य अफगाणिस्तान के पश्चिम में पर्शिया और पश्चिम एशिया में जाकर बडे प्रमाणपर बौद्ध बनाए हैं ऐसा भी दिखाई नहीं देता। इस्लाम के पूर्व, इराण और पश्चिम एशिया में पारसी धर्म प्रचलित था। पारसियों को भी बौद्ध नहीं बनाया गया। पूर्वकाल में हम सब ने पश्चिमी देशों की ओर मुंह क्यों मोड दिया था और इस्लाम आने के बाद हमारे सब के दरवाजे मुसलमानों के लिए क्यों बंद कर दिए गऐ थे? आज भी हम सब यानि सनातन धर्मी, जैन, बौद्ध इत्यादि अनेक पंथीय आचार्य युरोप और उत्तर अमेरीका में उपदेश और प्रचार करने जाते हैं। लेकिन हम में से कोई भी मुस्लिम जगत में अपना प्रचार करने नहीं जाता। यहां तक कि योग साधना का भी प्रचार मुस्लिम जगत में नहीं किया जाता। इन घटनाओं से क्या यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि हमारी नैसर्गिक मानसिकता उत्तर और पूर्वीय देशों से संलग्न रही है। पश्चिमी देशों से नहीं। इस निष्कर्ष को ऐसे ही आगे बढाया जाए तो हमें एक संकेत मिलता है कि हमारे सारे प्रश्नों के मूल में भौगोलिक और भूगर्भीय संरचना रहती है।

हमारी एक और विचित्रता। हिन्दू। हिन्दू शब्द संपूर्ण संस्कृत साहित्य में कहीं पर भी दिखाई नहीं देता और न हिन्दू शब्द का मूल

किसी भारतीय भाषा में मिलता है। इस्लाम के पूर्व अरब व्यापारी लोग भारत में और पश्चिमी समुद्र तटीय प्रदेशों में आते थे। अरबों ने इस देश को अहले हुनूद और यहां के समाज को हिन्दू ऐसा नाम दिया था। अरबों ने हमें हिन्दू क्यों, कैसा और कब कहा यह संशोधन के विषय है। इस्लाम के पूर्व, मध्य एशियायी और इराणी लोगों ने हमें हिन्दू कहा था। ऐसा उल्लेख कहीं पर भी नहीं मिलता। इस्लाम के बाद पश्चिम और मध्य एशियायी सारे मुस्लिम आक्रमणकारियों ने हमें हिन्दू कहा था। इस प्रकार हिन्दू शब्द संपूर्णतः परदेशी और परधर्मी रहा है और इसके साथ मुस्लिम आक्रमणकारियों के अत्याचारों की भावना भी संलग्न रही है। हमने हमको हिन्दू कहना किस काल में आरंभ किया यह अस्पष्ट है। उत्तर भारत में मुसलमानों का आधिपत्य बढता गया और उसके साथ ही उनके अत्याचार भी बढते गए। हमारी राजकीय शक्ति और सामाजिक मानसिकता भी क्षीण हुई। मुसलमानों ने हमें हिन्दू कहा और उनके दाब में हम भी खुद को हिन्दू कहने लगे। इस प्रकार हम हिन्दू बन गए। उस काल हमारा धर्म सनातन धर्म रहा था। हिन्दू धर्म नहीं था। लेकिन आधुनिक काल में हमारा सनातन धर्म जाता रहा और हमारा धर्म हिन्दू धर्म बन गया।

अब हम स्वतंत्र हुए। विदेशियों और परधर्मियों की स्मृति अवशेष निकल रहे हैं, निकाले जा रहे है और नष्ट हो रहे हैं। अंग्रेजों के पुतले गए । मुसलमानी लीबास गया। भारतीय भाषाओं में से अरबी और फारसी भाषा के अनेक शब्द और वाक्प्रचार गए और जा रहे हैं। अलाहाबाद का प्रयागराज बना। लेकिन जाहिल अरबों ने दिया हुआ हिन्दू शब्द अभी नहीं गया। हमारे दिग्गज विद्वान, इतिहासज्ञ और संस्कृति के रक्षकों को यह भलीभांती मालूम है कि हिन्दू शब्द के साथ मुसलमानों का हमारे प्रति तिरस्कार और उनके अनन्वित अत्याचार जुडे हुए हैं। ऐसा होने पर भी इन दिग्गजों को खुद को हिन्दू कहने में लज्जा

नहीं आती। इसके विरुद्ध इन्हें हिन्दू कहलाने में गर्व होता है। इससे स्पष्ट होता है कि अभी तक हमारी बौद्धिक गुलामी नहीं गई।

इस विवेचन से एक निष्कर्ष निकाला जा सकता है। भारत में मुसलमान आये। विदेशियों और परधर्मियों के लिए हमारे दरवाजे बंद हुए। अरबों ने हमारा नामाभिधान हिन्दू किया। हमारी राजकीय शक्ति क्षीण हुई। जाति के नियम कठोर बने। छुआछात का अति प्राबल्य हुआ। हमारी अवनति हुई। इस प्रक्रिया को बदल दिया जाए तो हमारी अवनति नष्ट होगी और हमारा उत्कर्ष होगा। मुसलमानों का आधिपत्य नष्ट हुआ। अब हमको बौद्धिक गुलामी से संपूर्णतः मुक्त होना है। भारत से हिन्दू शब्द मिटाना है। हमारा राष्ट्रीय नामाभिधान हम को हमारी संस्कृति और परंपरा से करना चाहिए। इसका परिणाम ऐसा होगा कि परधर्मियों के लिए हमारे दरवाजे संपूर्णतः खुल जाएंगे। जात पात के बंधन और दलितों की संज्ञा नष्ट हो जाएगी। भारतीय समाज संपूर्णतः मुक्त हो जाएगा। हम जानते हैं कि ऐसा निष्कर्ष निकालना और परिणामों का विधान करना मुर्खता का घोतक है। लेकिन इस विधान के लिए एक विस्तृत प्रमाणपर प्रयोग किया जा रहा है। प्रयोग के परिणामों का अध्ययन किया जाएगा। जिससे इस विधान का मूल्यांकन किया जा सकेगा।

कुछ संस्कृत विद्वानों का मानना है कि वेदव्यास कोई ऐतिहासिक व्यक्ति नहीं है। व्यास एक संकल्पना है। वह भी ज्ञान और ज्ञान प्रसार की संकल्पना रही है। ज्ञान की संकल्पना पर आक्षेप करना और उसे बुरा भला कहना यह नीरी मुर्खता है। इन विद्वानों में भी कुछ भेद है। संस्कृत के दाक्षिणात्य विद्वानों में व्यासजी के प्रति अपार श्रध्दा और भक्तिभाव दिखाई देता है। उतनी श्रध्दा उत्तर भारतीय ब्राह्मण विद्वानों में दिखाई नहीं देती। वैसे ही ब्राह्मणेतर संस्कृत विद्वानों में ऐसी श्रध्दा बहुत ही क्षीण रहती है। जहां तक ऐतिहासिक व्यक्ति का प्रश्न है कृष्णद्वैपायन या वेदव्यास महाभारत कालीन ऐतिहासिक व्यक्ति रहे थे।

उनका सारा जीवन वृतांत महाभारत में विस्तारपूर्वक मिलता है। कृष्ण व्दैपायन के गोत्र का उल्लेख बौधायन श्रौतसूत्र में मिलता है। लेकिन पुराण रचनाकार व्यासजी कोई व्यक्ति नहीं थे। यह सर्वश्रुत है। वहांपर व्यासजी का पीठ था और सभी पीठस्थ आचार्य व्यासजी के नाम से प्रतिध्द हुए।

ज्ञान की संकल्पना के लिए हमारे यहां सरस्वती देवी रहती है। तो क्या व्यासजी सरस्वती देवी से भी श्रेष्ठ थे। जिससे उनके प्रति अपार श्रध्दा निर्माण हुई। वैसे ही वसिष्ठ, विश्वामित्र याज्ञवल्क्य इत्यादि अनेक ऋषियों ने ज्ञान संवर्धन के लिए अथक प्रयत्न किया था। तो उनके लिए विव्दत् समाज में इतनी श्रध्दा क्यों नहीं है? इस प्रश्न का सयुक्तिक उत्तर किसी से भी नहीं मिलता। यह हम मानते हैं कि महाभारत युध्द के बाद व्यासजी ने वेदविद्या का संवर्धन और समाज में उसका प्रसार बडे ही निष्ठा से किया था। उसके बाद भी परकीय आक्रमणों के विनाश से वेदविद्या की शिक्षा का कार्य अनेक समयों में खंडित हुआ था। उसको पुनरपि प्रस्थापित करने अनेक ऋषियों ने अथक प्रयत्न किया था। वे सभी ऋषि व्यासजी के नाम से संलग्न रहे थे। इस प्रकार से ज्ञान संवर्धन और प्रसार की संकल्पना व्यासजी के नाम से संलग्न है। इस महद् कार्य के लिए भारतीय समाज व्यासजी का सदैव ऋणि रहा था और आज भी है।

व्यासजी का व्यक्तिमत्व भारतीय जन मानस पर इतना उत्तुंग है कि उनपर आक्षेप या टीका हम नहीं करते और न हम कर सकते हैं। क्योंकि हमारी उतनी पात्रता नहीं है। इस विवेचन में गत इतिहास के कुछ प्रसंगो का निरीक्षण किया गया, भाष्यकारों के दर्शन और पुराण ग्रंथों की विचारधारा को देखा गया। इन निरीक्षणों से सत्यशोधन का एक छोटासा प्रयास किया जा रहा है कि मध्ययुग से हमारी अधोगति क्यों हुई? इस अधोगति के लिए व्यासजी और पुराण रचानकार आचार्य

कहां तक दोषी हैं। भारत का क्षेत्र और उसकी जनसंख्या आरंभ से ही अति विशाल रही है। इन पर एक या कुछ व्यक्तियों का प्रभाव दीर्घकालीन टिकना कुछ असंभवसा प्रतीत होता है। निसर्ग में समष्टि पर व्यस्टि का कुछ काल तक प्रभाव रह सकता है लेकिन दीर्घकाल तक नहीं। इस के विरूध्द हमारे पास एक उदाहरण है। हजारों वर्षों पूर्व ऋषियों ने घोर तपश्चर्या कर प्रचंड प्रमाणपर ऊर्जा संग्रहित की थी और उस ऊर्जा के प्रभाव से उपनिषदों का निर्माण हुआ था। उपनिषदों के दर्शन और विचारधारा के प्रभाव से संपूर्णतः भारतीय समाज का गठन हुआ, विकास हुआ, उन्नत हुआ और आज तक जीवित रहा। आज भी भारतीय समाज का मानस संपूर्णतः उपनिषदों पर आधारित है। पाश्चात्य विव्दान कहते आये हैं कि भारत में शहरी हो या ग्रामीण, सधन हो या निर्धन, शिक्षित हो या अशिक्षित सभी व्यक्ति साठ साल आयु के बाद दार्शनिक बन जाते हैं। मानव समाज में ऐसी प्रक्रिया पाश्चात्य देशों में दिखाई नहीं देती। भारतीय समाज पर उपनिषदों के चिरस्थायी प्रभाव का यह एक प्रत्यक्ष प्रमाण है।

पुराण ग्रथों में वर्णित दर्शन और विचारधारा का भी गहरा प्रभाव भारतीय समाज पर स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। जनता में राष्ट्रीय भावना का अभाव, अकर्मण्यता, संवेदनाहीनता, आत्मकेंद्रित वृत्ति, व्रत वैकल्यों का बाहुल्य, कठोर जाती व्यवस्था इत्यादि पुराणों से निर्माण हुई ऐसा माना जाता है। इसलिए हमारी अधोगती के लिए व्यासजी और पुराण रचनाकार आचार्यो को दोषी क्यों नहीं मानना चाहिए? पीछे हमने बताया है कि पुराण ग्रंथों की विचारधारा संपूर्णतः उपनिषद और गीता के विरूध्द है। इससे एक प्रश्न निर्माण होता है। भारतीय समाज ने व्यासजी और उनके सहयोगी आचार्यों का क्या अपराध और पाप किया था? व्यासजी ने समाज को क्यों दंड दिया? पुराण ग्रंथ लिखकर समाज की अधोगति के लिए क्यों कारणभूत बनें?

एक नियम है कि 'राजा कालस्य कारणम्'। परिस्थितियों से या पर्यावरण से व्यासजी निर्माण हुए या व्यासजी ने परिस्थितियों को निर्माण किया। लेकिन अंतिमतः व्यासजी ही परिस्थितियों के कारणभूत रहे थे जिससे हमारी अधोगति हुई। यहां पर व्यासजी एक व्यक्ति नहीं हैं। बल्कि आचार्यों का एक समूह है जिन्होंने चार पांच सौ वर्षों के काल में पुराण ग्रंथो की रचना की थी। उस काल ऐसी कोनसी असाधरण परिस्थितियां या पर्यावरण निर्माण हुआ था जिससे व्यासजी को प्रेरणा मिली, आत्मानुभूति हुई, स्फुर्ति मिली और उनको पुराण ग्रंथ लिखने बाध्य होना पडा। इतिहास का निरीक्षण करने पर ऐसा कुछ असाधारण दिखाई नहीं देता और भूगोल में भी कुछ परिवर्तन नहीं हुआ था। भूगर्भ और अंतरीक्ष की गतिविधियां, जिनका प्रभाव मानव समाज पर कुछ होता होगा इनसे हम आज तो अनभिज्ञ हैं। व्यासजी और व्यासजी की संकल्पना का भारतीय समाज के प्रति वास्तविक रूप से क्या और कैसा योगदान रहा था। इसकी भी हमें जानकारी नहीं है। इसलिए ऐसे सारे शास्त्रीय प्रश्न अनुत्तरित रह जाते हैं। जिससे व्यासजी के कार्यों का मूल्यांकन करना और हमारे मध्ययुगीन अधोगति के कारणों का अध्ययन करना कुछ असंभवसा हो जाता है।

महर्षि वेदव्यास का व्यक्तित्व अति उत्तुंग माना जाता है और उनका कार्य भी अति महान रहा है। उनका भागवत महापुराण कृष्णभक्ति का अनुपम और उत्कृष्ट ग्रंथ रहा है। देशभर में भागवत कथाएं होती हैं। लाखों लोग एकत्रित होकर श्रवण करते हैं। कृष्णभक्ति में समरस होते हैं। ऐसे सामाजिक अभिसरण से बडे प्रमाण पर ऊर्जा निर्माण होती है ओर समाज में प्रसारित होती है। जिससे समाज कार्य प्रवण बनता है। परिणामतः समाज में परिवर्तन आता है। यह सारी प्रक्रिया व्यासजी की देन है। उनकी प्रतिमा भारतीय जन मानस पर सदैव से ही अति श्रध्दायुक्त और आदरणीय रही है।

'महर्षि वेदव्यास: एक विचिकित्सा: एक खोज' श्री बालकृष्ण बलदवा की वैदुष्यपूर्ण, निर्भीक और समाजोन्मुखी कृति है जिसमें लेखक की बहुश्रुतता, बहुज्ञता, गंभीर तार्किक शक्ति और राष्ट्र-चिन्ता मुखरित हुई है। श्री बलदवा का अंग्रेजी, मराठी और हिन्दी पर समान अधिकार है। प्राच्य विद्या और संस्कृति के गंभीर अध्ययन के साथ साथ उन्होंने आधुनिक विज्ञान की कई शाखाओं का भी गहरा अध्ययन किया है। वह मौलिक चिन्तक हैं और बिना किसी लाग-लपेट और संकोच के अपना मत प्रस्तुत करने में सिध्दहस्त हैं। प्रस्तुत पुस्तक इसका प्रमाण है।

मेरी जानकारी में महर्षि व्यास विषयक उनकी यह शोध पुस्तक न केवल नये तथ्य उद्घाटित करती है। प्रत्युत प्राच्य संस्कृति परक चिन्तन को नयी दिशा भी देती है।

राष्ट्रपति व्दारा "सर्टिफिकेट ऑफ आनर" एवम्
उ.प्र.शासन व्दारा वरिष्ठतम सन्मान से सन्मानित,
भू.पू. कुलपति व स्वतंत्रता सेनानी
डॉ. प्रभुदयालु अग्निहोत्री
साहित्य वाचस्पति

प्रकाशक :
बालकृष्ण बलदवा
सुभद्रा, उद्योग भवन परिसर
लातुर ४१३५३१ महाराष्ट्र.

४०/-

Print Pack Latur Ph. 20857